आज का जापान

[एक भारतीय बौद्ध भिक्षु द्वारा आँखो-देखा विवरण]

लेखक

भदंत आनंद कौसल्यायन

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

पटना ४

मूल्य २॥)

दो शब्द

विषय का प्रतिपादन करने के लिये पुस्तक और पुस्तक अथवा ग्रन्थ का परिचय देने के लिए प्रस्तावना, भूमिका अथवा 'दो-शब्द' !

पुस्तक स्वयं ही आप अपनी परिचायिका होती है ।

कहते आये है कि प्राचीन समय मे जब यातायात के आधुनिक साधनो का अभाव था, यात्रियो को बडी-बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था । यह निर्णय करना कठिन है कि वर्तमान युग ने उन कठिनाइयो मे कमी की है, अथवा उन्हे और भी बढा दिया है ? अतीत था कि न आज्ञा-पत्र (पासपोर्ट) की आवश्यकता, न अनुज्ञापत्र (वीसा) का झझट, न डाक्टरी सार्टिफिकट की अपेक्षा और नही थी इनकम-टैक्स-प्रमाणपत्र की जरूरत । वर्तमान है कि हिमालय की अलंघ्य दीवारो से भी दुरूह, एक-से-एक बढकर प्रतिबन्ध सिर उठाये खडे हो गये है । सचमुच आज किसी भी अल्प-साधन-सम्पन्न व्यक्ति के लिए उन्हे लाँघना सहज नही ।

याद आ रहा है कि कोई २५ वर्ष पूर्व घुमक्कड़-प्रवर राहुल-जी ने लिखा था कि जोडने के लिए तो न कभी पैसा मिला और न उसकी इच्छा ही हुई, किन्तु आने-जाने के लिये और खाने-पीने के लिये उसकी कभी विशेष कमी भी नही रही । मेरी 'जापान-यात्रा' को आर्थिक दृष्टि से सुकर बनानेवालो मे ज्योति-ब्रदर्स के उपासक मणिहर्ष ज्योति, राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति के मन्त्री भाई मोहनलाल भट्ट तथा कृष्णार्पण ट्रस्ट के मन्त्री श्री पुरोहित जी मुख्य हैं । मै इनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मात्र से अपना भार हलका हुआ नही समझता । मै बहुत-बहुत आभारी हूँ ।

यात्री का सबसे बडा संबल है सहन-शीलता—शारीरिक से भी अधिक मानसिक । भिन्न परिस्थिति, भिन्न जल-वायु, भिन्न आचार-व्यवहार, भिन्न रहन-सहन, भिन्न खान-पानवाले किसी भी देश मे जो यात्री जितनी ही अनाग्रही-वृत्ति, जितनी ही हलकी-फुलकी तबियत लेकर जायगा, वह उतना ही सुखी रहेगा ।

जापान मे और वहाँ से लौटते समय यात्रा मे, जिन्होने मुझे अपने उपकारों से विशेष रूप से उपकृत किया उनमे मुख्य है रैवरैण्ड रिरि नाकायामा तथा भिक्षु प्रज्ञाश्री । मै हवाई-जहाज से गया था और पानी के जहाज से लौटा । लौटते समय जहाज मे ही 'आज का जापान' लिखना आरम्भ कर दिया था । यात्रा के सस्कारो को यथा-शीघ्र साक्षर बनाने की दृष्टि से और जहाज की यात्रा मे कोई दूसरा

कार्य्य भी न रहने की दृष्टि से यही आवश्यक था और यही उचित भी। इच्छा रहने पर भी सभी लेख यात्रा मे ही न लिखे जा सके। कई लेख 'भारत' लौटकर कालिम्पोङ मे रहते समय लिखे गये। जिस क्रम से वे लिखे गये उसी क्रम से मै उन्हे नई-दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' को भेजता रहा, जो उसके सम्पादक की कृपा से 'सूर्य्योदय के देश मे' लेख-माला मे पिरोये गये। लेखक सम्पादक के सौजन्य का ऋणी है।

अजन्ता प्रेस लि० के भाई जयनाथ मिश्र के औदार्य के बारे मे इसी अवसर पर कुछ कहना आर्य-शिष्टाचार से बे-मेल-सा है। एकमात्र वे ही उभयपक्ष—लेखक तथा पाठक-के धन्यवाद के अधिकारी है।

यह 'दो-शब्द' लिखते समय लेखक 'थाईलैण्ड' जाने की तैयारी पूरी कर चुका है। असम्भव नही कि वहाँ से हिन्द-चीन और पुनः जापान जाना हो। यदि ऐसा हुआ तो लौट-कर वह कहानी भी सुनानी ही होगी।

तब तक प्रमाद-वश हुई त्रुटियों के लिये क्षमा-याचना।

धर्मोदय विहार
कालिम्पोङ

आनन्द कौसल्यायन

मित्रवर रिरि नाकायामा

को

सस्नेह

विषय-सूची

टापुओं का देश—जापान

[१]

विश्व-बौद्ध-सम्मेलन में

यदि मै इसका ठीक-ठीक अदाजा कर पाता कि द्वितीय विश्व-बौद्ध-सम्मेलन के अवसर पर जापान जाने के सकल्प को मन मे जगह देने से जापान प्रस्थान करने से पूर्व काफी हैरानी का सामना करना पडेगा, तो कदाचित् मै जापान जाने के सकल्प को मन में जगह ही न देता। किन्तु अब दो महीने के जापान-प्रवास के बाद मुझे लगता है कि यह बहुत ही अच्छा हुआ कि मै जापान हो आया।

जापान कैसे गया ?

प्रस्थान करने से पूर्व पासपोर्ट, वीसा आदि की सब कठिनाइयाँ लाँघ और ब्रिटिश ओवरसीज एयरवेज कम्पनी के हवाई जहाज से १७०७ रु० में कलकत्ता से तोक्यो तक का टिकट लेकर भी जब २१ दिसम्बर को प्रातःकाल सभी मित्रो से विदा हो और यात्रा के लिए उनकी मगल-

कामनाएँ साथ ले मैं अमृतानन्द आदि के साथ बी० ओ० ए० सी० के आफिस में पहुँचा तब कार्यालय के लोगों ने मेरा पासपोर्ट देखकर कहा— "आपके पासपोर्ट में हांगकांग का समर्थन (एण्डोर्समेंट) नहीं है, आप नहीं जा सकते।"

महीने भर की दौड़-धूप के परिणामस्वरूप पासपोर्ट मिला था, 'वीसा' लिया था, टिकट लिया था, अब यह हांगकांग का एण्डोर्समेंट् और क्या बला बाकी रह गई।

तुरन्त समझ में आ गया। हांगकांग को चीन मानकर मैंने हांगकांग-प्रवेश की पृथक् आज्ञा न ली थी। मैं भूल गया था कि हांगकांग तो अंगरेजों की छत्रच्छाया में है।

अब क्या हो? जहाज दो घंटे में दमदम से उड़नेवाला था और आज रविवार होने से कहीं से दौड़-भागकर भी एण्डोर्समेंट प्राप्त नहीं किया जा सकता था।

कम्पनी की भी एक सीट खाली जा रही थी। उसके लिए भी यह आर्थिक हानि का प्रश्न था। कर्मचारियों ने यह किताब देखी और वह किताब देखी, इससे सलाह की और उससे सलाह की। अन्त में बोले—

"हम आपको ले जा सकते हैं, लेकिन आपकी अपनी जिम्मेदारी पर।"

"क्यों, इसमें क्या खतरा है?"

"वे आपको पकड़कर जेल में भी डाल सकते हैं।"

"यह कोई जेल का खतरा मोल-लेने जैसी बात नहीं है। आप मुझे परसों ले चलिएगा।"

"अच्छा।"

बी० ओ० ए० सी० वाले अपनी बस लेकर चल दिए। भिक्षु अमृतानन्दजी चले गए। भिक्षु बुद्धसागरजी चले गए। श्री केसरलाल चले गए। श्री त्रिरत्न चले आए। केवल हम ही रह गए।

वापस निवासस्थान पर लौटा तो लोगो का हँसी-मिश्रित आश्चर्य अच्छा नहीं लगा।

२२ ता० को राइटर्स बिल्डिंग जाकर हागकाग का समर्थन ले आया; किन्तु जहाज के लिए तो २३ ता० तक प्रतीक्षा अनिवार्य थी।

२३ ता० को बी० ओ० ए० सी० वालो ने टका-सा जवाब दे दिया कि आज तो जहाज में कोई जगह नहीं है। २५ ता० को तोक्यो में कान्फ्रेंस का उद्घाटन है और २३ ता० को भी मेरे लिए जहाज में जगह नहीं है!

आस्ट्रिया के मेरे मित्र डा० क्लार भी जापान जा रहे थे। वे इस समय इसफहान (फारस) मे डाक्टरी करते हैं। कलकत्ते तो पहुँच गए थे, किन्तु आगे जाने के लिए उन्हें भी जगह नही मिल रही थी। दो दिन से हम कलकत्ते में साथ-साथ ही थे। २३ ता० को हम दोनों ने तय किया कि कराची से आनेवाले जहाज में जगह तो नही है, तोभी हवाई अड्डे पर चलना चाहिए। सम्भव है, कोई जगह हाथ लग ही जाय।

हवाई अड्डे पर पहुँचकर सारी चतुराई खर्च की। कोई गुंजाइश नहीं मालूम हुई। जब हम दोनों लगभग निराश हो चुके थे, कम्पनी का कर्मचारी अकस्मात् बोला—

"डाक्टर! आप आइए।"

मुझे चोट लगी। कम्पनीवालों ने मुझे कह रखा था कि यदि स्थान खाली होगा, तो पहले आपको मिलेगा।

किन्तु, कम्पनीवालों का क्या। उन्होंने वैसे ही डा० क्लार को भी कह रखा होगा! कह क्या रखा होगा, कह ही रखा था।

डा० क्लार चले गए। हम फिर रह गए।

उस समय तो एक बार मुझे भी तुलसी बाबा याद आ ही गए—

सकल पदारथ एहि जग माहीं।
करमहीन नर पावत नाहीं॥

किन्तु निराश होना तो सीखा ही नहीं। मैंने संकल्प किया कि अब अपने निवासस्थान—महाबोधि सभा जाऊँगा तो फिर जापान जाऊँगा ही नहीं। प्रातःकाल दस बजे से शाम के छः बजे तक यहाँ से वहाँ दौड़ता रहा और प्रत्येक आधे-आधे घण्टे पर जहाँ-तहाँ फोन करता रहा। शाम के छः बजे के आसपास बी० ओ० ए० सी० के एक कर्मचारी ने कहा—

"आपके लिए पैन अमरीकन एयरवेज में एक सीट मिल गई है।"

बस, ऐसा लगा कि तोक्यो पहुँच ही गया।

बी० ओ० ए० सी० के टिकट को पी० ए० ए० के टिकट से बदला और महाबोधि सभा आकर थोडा विश्राम कर फिर पी० ए० ए० के आफिस में चला गया।

जहाज रात के दो-तीन बजे छूटनेवाला था। इसलिए आफिस में आकर ही विश्राम करना अनिवार्य था।

२४ ता० को प्रातःकाल जहाज ने दमदम छोड़ा—काफी विलम्ब

से। शान्ति-सम्मेलन में पीकिंग जानेवाले कुछ प्रतिनिधियों से बातचीत होती रही। इसलिए प्रतीक्षा अखरी नही।

पूर्वाह्न मे ही हम थाइलैण्ड की राजधानी बगकाक पहुँच गए। अपराह्न मे हागकाग, जहाँ कुल १५-२० मिनट ठहरे। रात को एक बजे के बाद जापान-अधिकृत ओकिनावा द्वीप पर उतरे और प्रातःकाल होते-होते तोक्यो।

हवाई जहाज की यात्रा भी कोई यात्रा है—२४ सितम्बर को प्रातःकाल कलकत्ता और २५ सितम्बर को प्रातःकाल तोक्यो।

बी० ओ० ए० सी० का जहाज बीच में आराम लेकर तीसरे दिन जापान पहुँचता है। किन्तु पी० ए० ए० तो कहता है—

"राम काज कीन्हे बिना, मोहि कहाँ विश्राम।"

उड़ा, उडा और उड़ा—रुकने का नाम ही नहीं।

कलकत्ते से विश्व-बौद्ध-सम्मेलन में सम्मिलित होनेवाला मैं अपने जहाज मे अकेला यात्री था। बगकाक से भिक्षु जिनरत्न और डा० अरविन्द बरुआ भी साथ हो लिए। इस प्रकार जब जापान के वायुपत्तन—हनेदा—पर उतरे तब हम तीन साथी एक साथ थे।

जापानी हवाई अड्डे पर

इसमे कुछ सन्देह नहीं कि अपनी विशेष परिस्थिति के कारण हम जापान पहुँचने की निश्चित तिथि वा समय की किसी को पूर्वसूचना न दे सके थे, तोभी हमारी धारणा थी कि विश्व-बौद्ध-सम्मेलन के उद्घाटन का पहला दिन है, कोई-न-कोई स्वय-सेवक तो वायुपत्तन पर होगा ही। पर वहाँ एक भी आदमी न था। ऐसा लगा कि जिस विश्व-

बौद्ध-सम्मेलन की एशिया के दूसरे देशो मे इतनी धूम है, उसको लेकर जापान मे कहीं कुछ सरगरमी ही नहीं।

हमारे पास स्वागत-समिति के अध्यक्ष डा० मकोतो नागाई के घर का पता था। वायुपत्तन के कर्मचारियो ने हमारी सहायता की। पी० ए० ए० की मोटरगाडी के ड्राइवर को समझा दिया कि हमें हमारे ईप्सित स्थान पर पहुँचा दे। ड्राइवर के लिए और वायुपत्तन के लगभग सभी कर्मचारियो के लिए अँगरेजी उतनी ही विदेशी और अपरिचित भाषा थी, जितनी हमारे लिए जापानी। सकेतो की अन्तरराष्ट्रीय भाषा ही कुछ काम की सिद्ध हो रही थी।

जापानी ड्राइवर ने पूरे सौजन्य का परिचय दिया। डा० नागाई के निवासस्थान से यह पता लगाकर कि उनके सम्मेलन-स्थल पर होने की सम्भावना है, हमें होंगाजी पहुँचा दिया।

यहाँ हमारी अभ्यर्थना करनेवालो में दो-एक भाई कुछ टूटी-फूटी अँगरेजी भी समझ-बोल लेते थे। हमें राहत मिली कि कहीं ठिकाने लगे तो सही।

विश्व-बौद्ध-सम्मेलन

हाथ-मुँह धोकर और कुछ जलपान करके हम सम्मेलन के स्वरूप के बारे में अपनी जानकारी बढाने के लिए बाहर निकले।

भारतवर्ष में कोई छोटा-सा भी सम्मेलन हो, मण्डप बनना ही चाहिए। यहाँ मण्डप बनाने की तनिक आवश्यकता नहीं समझी गई थी।

२५ सितबर को प्रातःकाल नौ बजे के आसपास विश्व-बौद्ध-सम्मेलन का उद्घाटन होनेवाला था और ७ बजे के आसपास होंगाजी

(मन्दिर) के बडे हाल में मेज-कुर्सियाँ लगाई जा रही थीं। सजावट के नाम पर लाल-पीले कागजो पर भी विशेष पैसा बरबाद नही किया गया था। यहाँतक कि सभाभवन में कहीं किसी आदर्श वाक्य तक के दर्शन नहीं हुए। ठीक बात यह थी कि यह भी अपने ढग की एक सजावट ही थी—जापानी ढग की।

२५ सितम्बर से लेकर १४ अक्तूबर तक तोक्यो, क्योतो, नारा, ओसाका, हिरोशिमा और कोबे में न जाने कितनी सभाएँ हुई और न जाने कितने भाषण हुए, वे सब इतने अधिक व्यवस्थित थे कि थोड़ी-बहुत अव्यवस्था को अनिवार्य समझनेवाले हम उस व्यवस्था से ही तग आ गए।

सम्मेलन के लिए विदेशो से आगत अतिथियों की नामावली और उनके पते हर सदस्य को पहले ही प्राप्त हो गए थे। किसी-किसी ने आने की सूचना दी थी, किन्तु समय पर नहीं पहुँच सके थे। ऐसे कुछ प्रतिनिधियों को छोड़कर निम्नलिखित सूची लगभग सम्पूर्ण है।

अमरीका १६, आस्ट्रिया (जर्मनी) १, ब्राजील १, बर्मा ६, कम्बोडिया ३, सीलोन ६, चीन १०, फ्रास १, हवाई द्वीप १, हागकाग ८, भारत ६, लाओ २, नैपाल ४, ओकिनावा १, पीनाग १६, फिलिपाइन २, सिंगापुर ६, थाईलैण्ड ७, वीयतनाम ६, रिपब्लिकन कोरिया ५।

उक्त प्रतिनिधियों के अतिरिक्त लगभग उतने ही दर्शक थे। जापान को एक महीने तक दो सौ से भी अधिक अतिथियो की सेवा-शुश्रूषा में व्यस्त रहना पड़ा।

सम्मेलन का आरम्भ

सम्मेलन की कार्रवाई प्रायः ठीक समय पर आरम्भ हो जाती थी, और ठीक समय पर समाप्त। ऐसा लगता था, जैसे समय से आरम्भ करना और समय पर समाप्त करना ही सभा का प्रधान उद्देश्य हो।

सम्मेलन आरम्भ होने से पहले उपस्थित लोगों को कार्यक्रम की टाइप की हुई प्रति मिल जाती थी—हर जगह। उसमे यह भी लिखा रहता था कि सभापति ठीक कितने बजे आकर कुर्सी पर बैठेगा। आधुनिक कर्म-काण्ड की पराकाष्ठा थी।

भाषण प्रायः सभी लिखे हुए, छपे हुए, बँटे हुए।

वक्ताओं का काम होता उन्हें निश्चित समय पर और निश्चित अवधि के भीतर समाप्त कर देना। सम्मेलन में अधिकतया दो ही भाषाओं का उपयोग होता, जापानी का तथा अँगरेजी का। किसी भी भाषा में हुए भाषण का अनुवाद प्रायः जापानी या अँगरेजी और कभी-कभी दोनों में कर दिया जाता, तथा जापानी में हुए हर भाषण का अनुवाद अँगरेजी में। कोई भी जापानी वक्ता अँगरेजी का ज्ञान होने पर भी अँगरेजी में नहीं बोला। अधिक ठीक तो यही कहना होगा कि कोई जापानी वक्ता बोला ही नहीं। सभी के भाषण या सन्देश लिखे हुए थे, जो उन्होंने पढ़कर सुना दिए।

इस दृष्टि से सम्मेलन की कार्रवाई जितनी अधिक प्रामाणिक थी, उतनी ही नीरस।

लिखित भाषण देने के अपवाद थे सम्मेलनों के अध्यक्ष या कुछ भारतीय वक्ता।

स्वागत-समिति के अध्यक्ष डा० मकोतो नागाई ने जब अपना लिखित संक्षिप्त वक्तव्य पाली मे पढा तब सचमुच संवेदशील भारतीयो के तो रोंगटे खड़े हो गए।

डा० नागाई ने ठीक पाली की शैली मे सम्बोधन करते हुए कहा—

"हन्द हानि गुनवन्ता अम्हाक कल्यानमित्ता ।

हत्थ चित्तो सुद्धमानसो हमस्मि, तुम्हे आयस्मन्ते दूरे सक सक जनपदतो अम्हाक जनपद आगते इमस्मि विहारे परिसतु ।
एव रूपो महासमयो अम्हाक जनपदे अदिट्ठपुब्बो, सो सकल जम्बुद्दीपतो आगत सक्य-पुत्तियान सन्निपतितो ।"

[हे हमारे गुणवान् कल्याण-मित्रगण । मैं आपलोगों को अपने-अपने जनपद से यहाँ—हमारे जनपद के इस विहार मे आया देखकर अतीव प्रसन्नचित और प्रमुदित-मन हूँ। ऐसा उत्सव—जब सारे जम्बूद्वीप के शाक्यपुत्र यहाँ इकट्ठे हुए हैं—हमारे इस जनपद ने इससे पहले कभी नही देखा ।·· · ·]

२५ तथा २६ सितम्बर, पूर्वाह्न तथा अपराह्न, दोनों दिन वक्तव्यों तथा सन्देशों ने लिए। वक्ताओं के तथा सम्मेलन के फोटो लेनेवालों की इतनी अधिकता थी कि अनभ्यस्त लोगो को हैरानी और परेशानी मालूम होती थी। चार-पाँच भयानक रोशनी और गर्मीवाले बल्ब प्रायः जगमगाते ही रहते। उनके बिना रोशनी की कमी के कारण अन्दर के फोटो लिए ही न जा सकते थे।

२७ ता० से सम्मेलन तीन हिस्सो में बँट गया—तीन कमिटियों में लोगो से पूछ लिया गया था कि कौन किस कमिटी में रहना चाहता है।

जिसने जिस कमिटी में रहना चाहा उसे उस कमिटी में मान लिया गया। ये पचास-पचास, साठ-साठ आदमियों की कमिटियाँ भी अलग-अलग कमरों में होनेवाली छोटी-छोटी कान्फ्रेंसे ही थीं।

कमिटियाँ थीं—

(१) बौद्ध-विचार पर विचार करनेवाली कमिटी, जिसके सामने सात विचारणीय विषय थे।

(२) शिक्षा और ज्ञान पर विचार करनेवाली कमिटी जिसके सामने आठ विचारणीय विषय थे।

(३) बौद्ध-आचरण पर विचार करनेवाली कमिटी, जिसके सामने आठ विचारणीय विषय थे।

२७, २६ और ३० को इन कमिटियों में पृथक्-पृथक् विचार-विमर्श होता रहा। २८ सितम्बर रविवार का दिन था। उसे खाली छोड़ दिया गया। ३० सितम्बर को सम्मेलन का तोक्यो-अधिवेशन समाप्त हुआ।

अन्य कमिटियों में जो कुछ, और जैसा कुछ होता है वैसा ही कुछ इन कमिटियों में भी हुआ। राजनीति का नाम लेना वर्जित था, सैद्धांतिक मतभेद की चर्चा वर्जित थी। तीन मिनट और पाँच मिनट से अधिक बोलना वर्जित था। निश्चित समय से अधिक समय तक कमिटी की कार्रवाई चलाते रहना वर्जित था। इतनी वर्जनाओं के बीच में जो कुछ हो सकता था, हुआ।

मैंने अपना नाम शिक्षा और ज्ञान-प्रसार की कमिटी में दिया था। भाई जगदीश काश्यप भी उसीमें थे। उसमें एक प्रस्ताव था कि एक विश्व-बौद्ध-संस्था स्थापित की जाय। सभी सहमत थे। प्रश्न था—किस

देश मे ? इस विषय मे प्रायः सभी अपने-अपने देश के पक्ष मे थ। विश्व-बौद्ध-सम्मेलन मे भारतवर्ष न्यायतः एकदम पिछली पाँती मे खड़ा हुआ प्रतीत हुआ। सभापति ने ही कहा—"भारत को लेकर तो विचार किया ही नहीं जा सकता।" बडे प्रयत्न से कमिटी का मत इस ओर झुकाया जा सका कि भारत को लेकर भी विचार किया जा सकता है।

इस विषय पर विचार करने के लिए एक कमिटी बनाने का निर्णय हुआ, और इस कमिटी के बनाने का अधिकार विश्व-बौद्ध-भ्रातृमण्डल के पुनर्निर्वाचित अध्यक्ष डा० मलल सेकर को दे दिया गया।

ऐसा ही कुछ अन्य कमिटियों मे भी हुआ।

अन्तिम दिन कमिटियों द्वारा पास किए गए प्रस्ताव खुले अधिवेशन मे इतनी सुगमता से पास हो गए, मानो केवल उनकी घोषणा कर दी गई हो।

नए वर्ष के पदाधिकारियों के चुनाव का भी यही हाल रहा।

आगत अतिथियो को तीन श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—

[१] सम्मेलन के ऐसे प्रतिनिधि अतिथि जिन्होंने सम्मेलन की व्यवस्था के अनुसार विहारो मे ठहरना स्वीकार किया।

[२] सम्मेलन के ऐसे प्रतिनिधि अतिथि जिन्होंने सम्मेलन की व्यवस्था के अनुसार होटलो मे ठहरना स्वीकार किया।

[३] सम्मेलन के ऐसे प्रतिनिधि तथा दर्शक अतिथि जिन्होंने अपनी व्यवस्था के अनुसार होटलो मे ठहरना पसन्द किया।

सम्मेलन ने प्रथम और द्वितीय प्रकार के सभी अतिथियो के जापान-निवास के सभी दिनों मे रहने, खाने-पीने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान

पर जाने की सारी व्यवस्था का भार अपने सिर लिया। जापान-जैसी खर्चीली जगह में इन सारी जिम्मेदारियों को लगभग पूरे एक महीने तक निभाना कोई हँसी-खेल न था। किन्तु जापान ने इसे खूब निभाया और बड़ी ही सुव्यवस्था के साथ निभाया। जापान के लिए अनायास मुँह से निकलता है—अरिगतो गोजाइमस, हार्दिक धन्यवाद!

एक जेल : दूसरा अस्पताल

मैं तोक्यो मे रहते समय सम्मेलन और स्वागत-सभाओ मे सम्मलित होते रहने के अतिरिक्त दो स्थान विशेष रूप से देख आया—एक जेलखाना और दूसरा अस्पताल। न जेलखाना साधारण जेलखाना था और न अस्पताल साधारण अस्पताल।

सुगमो-कारावास

१६४५ मे जापान की पराजय के बाद जापान-विरोधी शक्तियो ने उसके साथ बडा ही निर्मम व्यवहार किया था।

एक अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय का नाटक रचकर सैकडो जापानियों को युद्ध-अपराधी घोषित कर नाना प्रकार की यातनाओ से दण्डित किया था—जिनमे प्राणदण्ड भी एक था।

एक जापानी बौद्ध भिक्षु ने तोजो आदि उन जापानी वीरो की जिन्हे

अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय ने प्राण-दण्ड से दण्डित किया, बड़ी ही मार्मिक कथा लिखी है।

न्यायाधीश विनोद पाल के रूप में भारत ने उस अन्तरराष्ट्रीय निर्णय से न केवल अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त की, बल्कि उसका पूर्ण विरोध कर, उस दिन भारत की लाज रख ली। श्री विनोद पाल के इस निर्णय के कारण भारत जापान में कितना लोकप्रिय हो उठा।

जिन्हें प्राण-दण्ड नहीं दिया गया उन सैकड़ों अभियुक्तो को जेल में डाल दिया गया—बड़ी-बड़ी लम्बी अवधि की सजाएँ देकर।

'सुगमो' जेलखाने मे ये ही सभी बन्दी आज दिन कैद हैं। एक से बढकर एक जापानी देशभक्त, एक से बढकर एक जापानी राजनीतिज्ञ, एक से बढकर एक जापानी शासनकर्ता। इस समय उनका जापानी शासकों के ही हाथ मे जापानी जेलो मे नजरबन्द रहना सचमुच जले पर नमक छिड़कने के तुल्य है।

मित्रवर श्री मूर्ति ने इन्ही जापानी कैदियों से भेंट कराने की व्यवस्था की थी। वह चाहते थे कि जापान के वे बन्दी जाने कि हम लोग उसी देश से आए हैं, जिस देश ने न्यायाधीश विनोदपाल को जन्म दिया है।

उस दिन काशी-विश्वविद्यालय के डा० आत्रेय, पार्लमेंट के सदस्य श्री राजभोज और मैं—हम तीन ही वहाँ जा सके। जेलखाने के नाम से जो भयानक चित्र मन मे खिंचता है, वैसा वहाँ कुछ भी न था। हमें बड़ा आश्चर्य हुआ जब ठीक किसी नाटक के पात्रों की तरह हमे मच पर ले जाकर खड़ा कर दिया गया। और सीटी की आवाज के साथ सामने का पर्दा हटा दिया गया। देखते क्या हैं कि सामने की कुर्सियों पर

कोई 'पाँच सौ आदमी बैठे हैं—मानों वे दर्शक हों और हम नाटक के पात्र ।

माइक्रोफोन लगा था। हमसे आशा की गई कि कुछ कहें। तीनों ने थोडे-थोडे शब्द कहे जिनका श्री मूर्ति ने 'जापानी' में अनुवाद किया।

अब एक बडे कमरे मे खुली बातचीत की व्यवस्था की गई। घण्टा-डेढ घण्टा प्रश्नोत्तर होते रहे। जब उन्हे प्रश्न पूछने के लिए उत्साहित किया गया तब उनमें से एक ने पूछा—

"अब भारत पर महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शिक्षाओं का कितना प्रभाव शेष है ?"

जापानी कारागार के इन बन्दियों में से अधिकांश की तेजस्विता देखते ही बनती थी।

समय की मर्यादा का खयाल कर उनसे विदा चाही। कई बन्धु फाटक के बाहर तक पहुँचाने आए। उनमे से एक ने एक पुस्तिका भेंट की जिसमें जेल-जीवन के चित्र ही चित्र थे। मैंने उस बन्धु को हस्ताक्षर कर देने के लिए कहा।

पुस्तिका सामान्य कागज पर छपी है। चित्र भी लकड़ी के ठप्पों के ही बने हैं। किन्तु अपनी मधुर स्मृतियो के कारण वह मुझे अनेक सचित्र पुस्तकों से बढकर कही प्रिय है।

हिरोशिमा की आहत लडकियाँ

दूसरी विशेष जगह थी वह अस्पताल जहाँ हिरोशिमा की आहत लड़कियों की आज तक चिकित्सा हो रही है। हमारा एक जापानी विदुषी

से परिचय कराया गया, जिसने अपनी लेखनी के जोर से मनुष्यो की कोमल भावनाओ को जगाकर इस अस्पताल के आर्थिक पक्ष को सबल बनाया है। हमने एक लड़की देखी जिसकी पिछले कई वर्षो से पलक नही झपक सकी। कई देवियो के सर्वथा निकम्मे हो गए हाथ देखे, कई देवियो के सर्वथा टेढे हो गए मुँह देखे। धन्य हैं वे डाक्टर और उनका जीवन जो मानवता की इन बिखुरी हुई पँखुड़ियो का फिर समेटने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जब मैंने एक लड़की से बहुत आग्रह किया कि वह मुझे अपने हस्ताक्षर-युक्त अपनी एक फोटो दे और अवश्य दे, तब उसे बहुत खुशी हुई—कदाचित् यही सोचकर कि वह भी कुछ कर सकती है, वह भी किसी को कुछ दे सकती है।

समय की पाबन्दी हर जगह भूत की तरह हमारे पीछे लगी थी। खेद है कि हम वहाँ अधिक नही ठहर सके।

अन्य नगरो के अधिवेशन

तोक्यो के बाद सम्मेलन के व्यस्थापको ने हमे अपने देश के अन्य भाग दिखाने के भी उद्देश्य से जापान के कुछ दूसरे नगरो मे भी सम्मेलन के शेष अधिवेशन की व्यवस्था कर रखी थी।

दो सौ से अधिक आदमियों को एक साथ लिए फिरना उतना सुविधाजनक भी न होता, और लोगो की रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। इसका खयाल कर उन्होने सभी प्रतिनिधियो तथा दर्शकों को भिन्न-भिन्न तीन-चार टुकड़ियों में बाँटा। कोई एक यात्राक्रम निपटाकर क्योतो पहुँचा, कोई दूसरा। कोई एक दिन आगे पहुँचा, कोई एक दिन पीछे। मेरे मित्र,
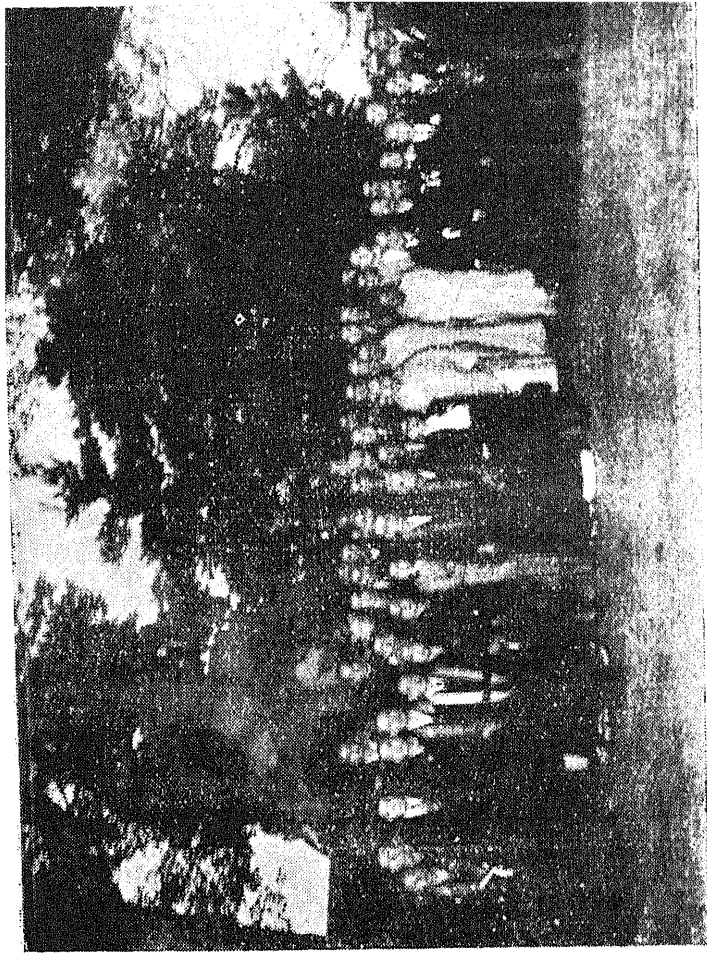
विश्व-बौद्ध-सम्मेलन के कुछ प्रतिनिधि (पृ० १६-१७)

रेवरैण्ड नकायामा की इच्छा थी कि हम जापान के बड़े नगर देखने का मोह छोड़कर जापान के समुद्रतटवर्ती उन छोटे-छोटे स्थानों को देखने चले, जहाँ बड़े ही श्रद्धालु बौद्ध रहते हैं और जहाँ शायद ही कभी कोई भारतीय गया हो।

हमने रेवरैण्ड नकायामा का यह प्रेमभरा आदेश स्वीकार किया। अक्तूबर की शाम को कुछ और प्रतिनिधियों को भी साथ ले भिक्षु जगदीश काश्यप और मैं रेवरैण्ड नकायामा के साथ हो लिए। छोटे-छोटे स्टेशनों पर, छोटी-बड़ी स्वागत-सभाओं में जो अकृत्रिम अभ्यर्थनाएँ हुईं, बीच-बीच में अपनी बहनों और माताओं की आँखों को जब अनायास सजल होते देखा, तब समझ में नहीं आता था कि आखिर हम क्यों इस समस्त गौरवगरिमा के अधिकारी हैं? हममें सिवाय इसके और कौन-सा गुण था कि हम भी उसी देश के थे जिस देश ने 'बुद्ध' को जन्म दिया।

और अकेली यही बात, इतनी बड़ी बात है—किसी भी देश के बौद्ध के लिए—कि उसे कहकर, बोलकर, लिखकर किसी तरह समझाया ही नहीं जा सकता।

इतनी बड़ी मानवता को भावना की एकता के सूत्र में बाँधनेवाली उस परम कारुणिक विभूति को—उस तथागत को—हमारा शतशः नमस्कार है!

क्योतो-अधिवेशन

अपने रास्ते से हम भी क्योतो पहुँचे। ६ ता० को पूर्वाह्न में सम्मेलन और अपराह्न में सांस्कृतिक नाट्य-प्रदर्शन हुआ। सम्मेलन में इन पंक्तियों

के लेखक से समस्त एशिया की ओर से कुछ कहने की आशा की गई। उस अवसर पर मुँह से निकला—

"निस्सन्देह पिछली तीन-चार शताब्दियों मे एशिया को यूरोप का ग्रहण लग रहा है, किन्तु यदि ससार के इतिहास को इस दृष्टि से देखा जाय कि पृथ्वी के किस भूभाग ने ससार को सबसे अधिक सभ्य बनाने मे, सबसे अधिक धर्म और संस्कृति का दान देने मे योग दिया है, तो पृथ्वी का वह भूखण्ड एशिया ही है। ईसा की जन्म-भूमि एशिया है, मुहम्मद की जन्म-भूमि एशिया है, लोकगुरु बुद्ध की जन्म-भूमि एशिया है।"

विशेष बात यह थी कि हर नगर मे आयोजको की ओर से नगर-दर्शन की व्यवस्था की गई थी जिसका प्रतिनिधियो तथा दर्शको को पूरा लाभ मिला।

मुझे लौटने के टिकट की व्यवस्था करनी थी। इसलिए मैं बीच में दो-तीन दिन के लिए फिर तोक्यो चला आया, जहाँ से फिर अपनी मण्डली के साथ हिरोशिमा मे जा मिला।

जाते समय आधे घण्टे मे ओसाका का किला आदि देखता गया।

हिरोशिमा

हिरोशिमा का सम्मेलन एक दिन रहा और एक दिन नगर-दर्शन। जिसे किसी नगर का विध्वस और निर्माण एक साथ देखना हो, वह हिरोशिमा को देखे। सात वर्ष पहले अमरीकी अणुबम ने जिस नगर को जमीन पर सुला दिया था, जापानी कर्तृत्व ने उसे फिर उठाकर खड़ा कर

लिया है। जापान के जाग्रत् और कर्तव्यपरायण होने का हिरोशिमा सबसे बडा सार्टिफिकेट है।

हिरोशिमा से हम कोबे आए और कोबे से वापस तोक्यो। तोक्यो मे यात्राजनित अस्तव्यस्तता ने मुझे थोड़ा विश्राम करने पर मजबूर किया।

वापसी

२१ अक्तूबर को कुछ लोगो के साथ हम निक्को हो आए, जिसके बारे मे जापानी कहावत है कि जबतक निक्को को न देखो तबतक कभी केक्को (बहुत अच्छा) शब्द का व्यवहार न करो। सचमुच निक्को ऐसा ही देव-निर्मित नगर है।

२५ अक्तूबर को कोबे से 'सरधना' रवाना होने को था। २३ अक्तूबर की रात को तोक्यो से फिर कोबे आना पड़ा। २४ अक्तूबर आवश्यक व्यवस्था ने लिया।

२५ अक्तूबर को अपराह्न मे जापान से विदा लेनेवाले—हम—जहाज पर थे और विदा देनेवाले नीचे तट पर। दोनो के हाथो में रग-बिरगे कागजो के लम्बे-लम्बे फीतो के एक-एक सिरे थे। जहाज हिल रहा था। साथ-साथ विदा होनेवाले भी फीतो को बढ़ाते चले जाते थे। क्या दृश्य था!

हवा ठढी थी। 'सरधना' जापान का तट छोड़ रहा था और विदा देनेवालो के हाथो से रग-बिरंगे कागजी फीतो के लहलहाते सिरे एक-एक करके छूटते चले जा रहे थे।

दोनो ओर से प्रयत्न यही था कि स्नेह-सूत्रो के ये प्रतीक किसी भी तरह टूटने न पाएँ।

जबतक लोग दिखाई देते रहे, जबतक लोगो के कण्ठ ने साथ दिया, तबतक जापान के तट से यही ध्वनि सुनाई देती रही—'सायोनारा' अर्थात् 'विदा'।

'सरधना' के विदा होते हुए यात्रियो की ओर से भी अन्त तक यही प्रतिध्वनि होती रही—सायोनारा अर्थात् विदा।

जब अँधेरा हो चला, मैं अपनी कैबिन मे लौट आया। मेरा साथी कह रहा था—"सचमुच जापान ऐसा देश है, जिसे कभी कोई नहीं भूल सकता।"

भिक्षु प्रजाश्री और मैं—दोनो गुरुभाई—अपने उस मित्र से सर्वथा सहमत हैं।

जापान, सायोनारा!

---

[३]

प्राकृतिक सौन्दर्य का आगार

१६५० की जनगणना के अनुसार जापान मे ८, ३१, ६६, ६३७ जन रहते हैं। जापान चार बड़े और अनेक छोटे-छोटे द्वीपो का द्वीप-समूह है। चार प्रधान द्वीप हैं—(१) होक्केदो, (२) होन्शू, (३) शिकोकु और (४) क्यूशू। होक्केदो प्रधान द्वीपों मे सबसे उत्तर मे है, और इसका क्षेत्रफल है ३०,३३४ वर्गमील। होन्शू का क्षेत्रफल है ८८,६६८ वर्गमील। शिकोकु का ७,२८० वर्गमील और क्यूशू का है १५,७५६ वर्गमील।

यदि ब्रिटेन के साथ तुलना की जाय तो होन्शू का क्षेत्रफल इगलैंड, स्काटलैंड और वेल्स के सम्मिलित क्षेत्रफल से थोड़ा अधिक है। होक्केदो स्काटलैंड से कुछ थोड़ा कम है। क्यूशू स्काटलैंड के आधे से थोड़ा अधिक और शिकोकु वेल्स से भी थोड़ा कम।

देश पर्वत-प्रधान होने के कारण खेती-वारी तथा कल-कारखानो के लिए सापेक्ष दृष्टि से अधिक भूमि नहीं बच रहती। जापान की लम्बाई ४५ ३१' उत्तर से २६ ८' उत्तर तक १३०० मील और चौडाई अधिक से अधिक १७० मील है, ठीक उतनी ही जितनी सिंहल द्वीप की। चारो द्वीपो की तटवर्ती रेखा की लम्बाई १६,२१४ मील है तथा चारो का क्षेत्रफल १,४२,३३८ वर्गमील।

जलवायु

जापान ने अक्षाश की कई रेखाएँ घेर रखी हैं। इसलिए उसका जलवायु भी नाना तरह का है और उसकी सर्दी-गर्मी मे भी बहुत तर-तम है। होन्शू, शिकोकु तथा क्यूशू से घिरा हुआ देश का अधिकाश भू-भाग समशीतोष्ण कटिबन्ध मे है और इसलिए उसकी औसत ऊष्णता १६ ७ (सेण्टीग्रेड)—दक्षिण मे—से लेकर ६ ३ (सेण्टीग्रेड)—उत्तरी छोर पर—तक है।

जापान-महासागर मे स्थित होने के कारण जापान मे वर्षा अधिक होती है। सामान्यरूप से उत्तर-पूर्व की अपेक्षा दक्षिण-पश्चिम मे अधिक वर्षा होती है। ग्रीष्म ऋतु मे जापानी समुद्री तट की अपेक्षा प्रशान्त समुद्र के तट पर अधिक वर्षा और शीत ऋतु मे ठीक उसके विपरीत। धान बोने का योग्य अवसर होने के कारण प्रत्येक किसान द्वारा बड़ी ही उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जानेवाली वर्षा ऋतु जून के मध्य मे आरम्भ होकर तीन या चार सप्ताह रहती है।

शीत-ऋतु में उत्तरी जापान दो या तीन महीनो तक बर्फ से ढका रहता है। प्रशान्त सागर के तट की अपेक्षा जापान सागर के तट पर

अधिक वर्षा होती है। देश के दक्षिण भू-भाग मे बर्फ के तूफान कम ही आते है। जब कभी बर्फ पड़ती भी है तब एक-दो दिन से अधिक जमीन पर नहीं रहती।

घुमक्कड़ो के लिए जैसा आकर्षक जापान है, वैसा शायद ससार का और कोई देश नही। प्रत्येक ऋतु मे एक नया आकर्षण। जनवरी मे नववर्षारम्भ बड़े ही प्रमुदित मन से मनाया जाता है। यह जापान का सबसे बड़ा त्यौहार है। तीन दिन तक जशन-ही-जशन !

ग्रीष्म ऋतु मे समुद्र-तट, पर्वत और गर्म पानी के चश्मे अपने जोबन पर होते हैं। शरद ऋतु मे पेडो की रक्त-वर्ण पत्तियाँ और खुला तथा साफ आकाश किसी को घर मे नही बैठने देते। किन्तु जापान की सैर करने का सबसे अच्छा समय है वसंत।

जापान फूलो का देश है। ससार के पुष्प-उद्यान को जापान ने किसी भी दूसरे देश से बढकर नाना वर्ण के एक-से-एक सुन्दर फूल की भेंट की है। वसन्त ऋतु मे जापान अपने आदर्श पुष्प—सकुरा—से आच्छादित रहता है। अकेला यह सकुरा ही पचास तरह का होगा।

यद्यपि सकुरा देश मे सभी जगह होता है, किन्तु कुछ स्थान अपनी विशिष्ट किस्मो के लिए प्रसिद्ध हैं।

शरद ऋतु मे जापान का विशेष आकर्षण है उसके किकु। चतुर मालियो ने न जाने कितने तरह के किकु-पुष्पो का विकास किया है ! देश भर मे प्रतिवर्ष किकु-पुष्पों के प्रदर्शन होते हैं। किकु का पौदा एक-से-एक, विभिन्न शकल मे उगाया जाता है। मालियों को 'किकु' की मूर्तियाँ बनाने में बड़ा आनन्द आता है—ऐतिहासिक पुरुषों की मूर्तियाँ।

ये मूर्तियाँ तार के ढाँचे पर फूलों की अद्‌भुत सजावट का परिणाम होती हैं। फूलों का चुनाव करने और मूर्तियों को प्राणवान बनाने के लिए पर्याप्त दक्षता अपेक्षित रहती है।

पर्वत

जापान पर्वतों का देश है। प्रत्येक मुख्य द्वीप मे पर्वत-शृङ्खला की एक रीढ की-सी हड्डी दिखाई देती है। इन पर्वतों के तीन विभाग हो सकते हैं। एक पर्वत-माला जो सघलीन से ही आरम्भ होती है—सघलीन-पर्वत-माला कहलाती है। जापान के आधे दक्षिण हिस्से के पर्वत क्यनलुन पर्वत-माला कहलाते हैं। इन दोनों पर्वत-मालाओं के बीच में एक पच्चर के समान फ्यूजी-समूह की पर्वत-माला है।

ये पर्वतमालाएँ एक प्रकार से देश की प्राकृतिक सीमाएँ हैं। फ्यूजी-समूह के उत्तर का प्रदेश कन्तो कहलाता है, दक्षिण का प्रदेश कसे। होन्शू मे से गुजरनेवाली पर्वत-माला का पूर्वीय प्रदेश ओमोते-निप्पोन अर्थात् आगे का जापान और दूसरी ओर का प्रदेश उर-निप्पोन अर्थात् पीछे का प्रदेश।

देश के अग्नि-शिख पर्वत भी जापान के प्राकृतिक सौन्दर्य मे बड़ी वृद्धि करते हैं। जापानी में पर्वत के लिए यम, सन या जन, तके या दके और मिने शब्दों का प्रयोग होता है। कोणाकार पर्वतों का सबसे बड़ा प्रतिनिधि है फ्यूजीपर्वत। कुछ अग्निशिख पर्वतो का शिखर तलवार की शक्ल का है, जैसे यात्सु-ग-तके; कुछ का शिखर आरे की शक्ल का, जैसे म्योजीसन; और दूसरे कुछ बड़ी ही असाधारण शक्लो के जैसे ओन-तके, नोरिकुर और कस-ग-तके।

उत्तर जापान के अग्नि-शिख पर्वतो की अपनी श्रेणी है और दक्षिण जापान के अग्नि-शिख पर्वतो की अपनी श्रेणी। जापान के मध्य मे जो पर्वत-पक्ति है और जिसके मध्य मे फ्यूजीपर्वत है, जापान के एल्पस्-पर्वत कहलाती है।

नदियाँ

नदी के लिए जापानी शब्द है कावा अथवा गावा। चारो मुख्य द्वीपों के बीचोबीच जो पर्वत-शृङ्खला फैली हुई है, अधिकाश नदियाँ उसी के दोनो ओर बहती हैं।

जापानी नदियो का पाट कम है, गहराई भी कम है, किन्तु बहाव तेज। इसीसे वे यातायात के बहुत उपयोग की नहीं। सामान्यतया नदियो के ऊपरी हिस्सों में चट्टाने ही चट्टाने हैं। बीच के हिस्सो मे से नीचे तक नाविकों की नौकाएँ चल सकती हैं। हाँ, योडो, शिनानो तथा तोने-सदृश बड़ी नदियो के निचले हिस्सों मे मोटर-लाञ्च भी इधर-उधर आ-जा सकते हैं। इन नदियो का एक दूसरा बड़ा उपयोग है। इनका पानी घेर कर सुरक्षित रखा जाता है और उससे धान के खेत सींचे जाते हैं। इन नदियों से जल-विद्युत्-शक्ति पैदा करने की भी असीम सुविधा है।

प्रायः जहाँ नदी का स्रोत किसी पर्वत-शिखर पर की झील है, वहाँ पानी जल-प्रपात बनकर बहता है, जैसे निक्को का प्रसिद्ध केगान जल-प्रपात।

झीले

'को', 'नुमा' और 'इके' झील के जापानी पर्य्यायवाची शब्द हैं। तोक्यो से नातिदूर कसुमि-ग-उर तथा इम्बनमा; तोकेड़ो की हन-मन, क्योतो के

पास बीव आदि कई प्रसिद्ध झीलें हैं। कुछ अपवादों को छोडकर मैदानों की झीलें उतनी आकर्षक नहीं हैं। किन्तु निक्को के पास की छू्जेन-जी झील के समान पर्वतों के बीच स्थित झीलें काफी आकर्षक ह। पहाड़ों, नदियों और झीलों से बचे हुए क्षेत्रफल का लगभग ७० प्रतिशत ऊँची भूमि है और शेष ३० प्रतिशत नीचे की भूमि। ये मैदान बडी-बडी नदियों के साथ-साथ फैले हुए हैं और बड़े उर्वर हैं, जिनमे प्रायः धान ही पैदा किए जाते हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य

ऊपर के वर्णन से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जापान के प्राकृतिक सौन्दर्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसके नाना प्रकार के तटवर्ती द्वीप, उपत्यकाएँ, झीलें, नदियाँ, जगल और मैदान, जिनका प्राकृतिक सौन्दर्य वर्ष की ऋतुओं के साथ बदलता है, दिन के घण्टों के साथ बदलता है, और यहाँ तक कि मौसम में परिवर्तन आने के साथ ही उनमे परिवर्तन आ जाता है।

समुद्री दृश्यों में सबसे बढ़िया दृश्य है सेतो नेके (भीतरी समुद्र) का। छोटे-बड़े एक हजार द्वीपों का समूह!

जापानी प्राकृतिक सौन्दर्य की दूसरी विशेषता है यहाँ के पर्वतों की सम्पत्ति और उनका नानात्व। उनके चारों ओर हैं जल-प्रपात, गर्म पानी के चश्मे और झीलें—योगाभ्यास के उपयुक्त स्थान।

समय-समय पर हुए विस्फोटों के परिणामस्वरूप अनेक अग्नि-शिख पर्वतों की शक्ल बहुत अनियमित, किन्तु साथ ही बहुत सुन्दर

वहाँ पानी जलप्रपात बनकर बहता है। (पृ० २६)

हो गई है। पूर्वोत्तर जनपद के हेक्कोदो तथा बन्दाई पर्वत और कान्तो जनपद क निक्को तथा हैकोने पर्वत इसके प्रमाण हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ पूरा-पूरा मेल खाते हुए सौन्दर्य के प्रत्येक स्थल पर कोई-न-कोई मन्दिर है। अधूरे अथवा पूरे सामन्त-प्रासाद, गुफाएँ तथा आदिमवासियो के निवासस्थान भी कहीं-कहीं हैं ही।

जातीय उद्यान

प्राचीन चीन वाङ्मय के एक महान पडित हयशि रजॉ (१५८३-१६५७) ने जापान के तीन सुन्दरतम स्थलों का चुनाव किया। उसने एक तो सेन्दाई के पास मत्सुशिमा को चुना, दूसरे जापान-समुद्र-तट पर अमनो-हशिदाते को चुना और तीसरे भीतरी समुद्र मे इत्सुकुशिमा को चुना। तीनो का अद्भुत तटवर्ती सौन्दर्य है, जिसे देखने के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य के अनेक प्रेमी वहॉ पहुँचते हैं।

१९२७ मे जनमत से जापान के आठ सुन्दरतम स्थानो का निश्चय किया गया। सरकार चाहती थी कि अमरीका की भॉति वह जापान में भी जातीय उद्यानो की स्थापना करे। सन् १९३२ में उसने १२ योग्य स्थानो का चुनाव किया। वे हैं—

(१) अकन, (२) दे-सेत्सु-जन, (३) तोवद, (४) निक्को, (५) फ्युजी-हकोने, (५) केन्द्रोय पर्वत, (७) योशिनो-कुमनो, (८) दे-सेन् (९) भीतरी-समुद्र, (१०) असो, (११) उन-जेन तथा (१२) किदिशिमा।

इनके अतिरिक्त कुछ ही समय हुआ, पॉच और जातीय उद्यान बनाये गये हैं। वे हैं—(१) शिकोत्सु-तोय, (२) बन-दाइ-असही, (३) चि-चि-बू-तम, (४) जो-शिन-एत्सु-कोगेन तथा (५) इसे-शिमा।

इस प्रकार समस्त जापान के क्षेत्रफल का ४३ प्रतिशत भाग अर्थात् ३६,१०,००० एकड भूमि जनता के लाभार्थ उन-उन प्रदेशों के सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए पृथक् कर दी गई है। इन क्षेत्रों मे गमनागमन की सुविधाओं मे और भी सुधार किया जा रहा है और शासन की सहायता लेकर प्रकृति के स्वरूप को यथासम्भव जैसे-का-तैसा बनाये रखने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इन जातीय उद्यानो के अतिरिक्त १६५१ के नवम्बर मे तीन मनोरजन-उद्यान बनाये गये। वे हैं—(१) सदोयहिको, (२) भील बीव तथा (३) थबकी-हित हिकी सीं।

गर्म पानी के चश्मे

जापान के अधिकाश जातीय उद्यानो का एक अतिरिक्त आकर्षण है—वहाँ के गर्म पानी के चश्मे।

ससार के किसी दूसरे देश को जापान के समान गर्म पानी के चश्मो के विषय में सौभाग्यशाली होने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ, और अन्य किसी भी देश मे ये लोगों के दैनिक जीवन के वैसे साक्षी नहीं बन सकते, जैसे जापान में। कुछ चश्मे देश के सुदूर विभागों मे हैं, जहाँ जापान के पुराने रीति-रिवाजों को आज भी देखा जा सकता है। दूसरे घुमक्कड़ों के यात्रा-स्थान हैं जहाँ आधुनिक युग की सभी यात्रा तथा निवास-सुविधाएँ प्राप्त हैं।

ग्रीष्मावकाश में विश्राम तथा जलवायु-परिवर्तन की पूर्ण आवश्यकता होती है। जापान के गर्म पानी के चश्मे बहुत ही अच्छी जगह हैं। कहीं-कहीं आप समुद्र-स्नान तथा धातुज जल-स्नान दोनों का आनन्द

पा सकते हैं और कुछ जगहो पर जाने से आप शहरों की गर्मी से बच सकते हैं।

पिछले वर्षों मे गर्म पानी के चश्मो पर जाने की लोगो की इच्छा मे विशेष वृद्धि हुई है। इतनी अधिक कि शनि तथा इतवार के दिन गर्म पानी के चश्मो पर जाने के लिए विशेष रेलगाड़ियाँ छोड़नी पड़ती हैं।

गर्म पानी के लगभग ११०० ऐसे चश्मे हैं, जिनका जल धातु के लवणो से मिश्रित होने से निश्चतरूप से रोगनिवारक है। मूरोराँ से २१ मील उत्तर की ओर नोबोरि-बेत्सु नाम का चश्मा प्राकृतिक सौन्दर्य के ठीक मध्य में स्थित है। ऐसे-ऐसे चश्मे हैं जिनमें से आठ-आठ, दस-दस फुट ऊपर तक गन्धक का धुआँ उछलता है। होन्शू में दो चश्मे हैं— (१) कुसत्सु, जो अपने गन्धक-स्नान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति रखता है, और (२) इको, जो जापान भर में एक अत्यन्त सुन्दर गर्म पानी के चश्मे-वाला विश्रामस्थल है। एक और गर्म पानी का चश्मा है अतमी, जो अपने सामुद्रिक दृश्यो के लिए प्रसिद्ध है।

इन गर्म पानी के चश्मों की गर्मी ८० (फारनहाइट) से लेकर २२६ (फा०) तक चली जाती है। स्नान के लिए उपयोग में आनेवाला ऊष्णतम जल कुसत्सु का है, जहाँ पर उसकी ऊष्णता १३६° (फा०) है। किन्तु स्नानागारो तक पहुँचते-पहुँचते १२०° (फा०) रह जाती है। दूसरी ओर कुछ धातुज-स्नान ठडे भी होते हैं। उनका पानी नहाने के लिए गर्म किया जाता है। इस तरह का पानी हाजमे की गड़बड़ी ठीक करने के लिए पीया भी जाता है।

जापान का ऐतिहासिक विहंगावलोकन—(१)

आधुनिक विश्वासो के अनुसार उत्तर पाषाण-युग मे—जो वैज्ञानिको का न्योलिथिक युग है—जापान मे मानव की बस्ती थी। परन्तु आजतक पुरातत्त्व-सम्बन्धी एक भी ऐसा प्रमाण नही मिला जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि प्रारम्भिक पाषाण-युग मे भी जापान मे मानवो की बस्ती थी। मिट्टी के जो बरतन मिले हैं, वे प्रायः दो प्रकार के हैं—जोमोन शैली के, ययोइ शैली के। चटाई की-सी लहरियो के निशानवाले होने के कारण जिन बरतनो को जोमोन शैली के बरतनो का नाम मिला है वे देश के प्रायः हर हिस्से मे मिले हैं। यह अनुमान किया गया है कि सहस्रो वर्षों तक इस प्रकार के मिट्टी के बरतन काम मे आते रहे।

काँसा-युग

ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी मे एक नई ढंग की पुरातन संस्कृति का

क्युशु और इस समय नारा जनपद कहलानेवाले प्रदेश मे आविर्भाव हुआ। शनैः-शनैः देश के दूसरे भागो मे भी इस सस्कृति का प्रसार होने लगा। इस सस्कृति से अभिसस्कृत लोग ही ययोई शैली के बरतनो को काम मे लाते थे। इन बरतनो का यह नामकरण केवल इसलिए हुआ है कि इनके नमूने वर्तमान तोक्यो के ययोई स्थान से ही मिले हैं। इसी समय चीन से काँसे और लोहे का आगमन हुआ। किन्तु काँसा-युग अल्पजीवी रहा और शीघ्र ही काँसा-युग तथा पाषाणयुग का लौहयुग मे समावेश हो गया। काँसा-युग की प्रतिनिधि वस्तुओ मे से मुख्य हैं पश्चिम जापान से प्राप्त तलवारे और भाले तथा मध्य-जापान से प्राप्त घंटियाँ। इससे यह अनुमान करना कठिन नही है कि इन चीजो को काम मे लानेवाले लोग ही आधुनिक जापान जाति के पूर्वज थे।

जापानियो के पूर्वज

किन्तु विशेषज्ञ जापान-नस्ल की उत्पत्ति के बारे मे एकमत नही हैं। अधिक सम्भावना यही है कि उत्तर-पूर्व एशिया तथा दक्षिण एशिया की नस्लो के मेलजोल से जापानियो के पूर्वजो की नस्ल का प्रादुर्भाव हुआ।

अतिप्राचीन काल मे जापान के लोग परिवार-समूहो से बने टोलो मे रहते थे। शनैः-शनैः ये टोले इकट्ठे होकर इस सीमा तक एक हो गये कि चौथी शताब्दी का आरम्भ होते-होते उन्होने एक राज्य की नीव डाल ली। आधुनिक नारा-जनपद का यमतो दरबार ही इस राज्य का केन्द्र था और यमतो दरबार के प्रथम नेता का नाम था सम्राट् जिम्मु।

बाह्य सस्कृति का प्रभाव

जापान पर बाह्य सस्कृति का प्रभाव दो ही मार्गो से पडा—पहले कोरिया के द्वारा और बाद मे सीधा चीन से। बौद्ध-धर्म और कन्फ्युशस-धर्म दोनो-के-दोनो कोरिया के रास्ते ही आये। सस्कृति के आगमन के साथ-साथ ही कोरिया तथा चीन से अनेक लोगो का भी आगमन का हुआ। वे जापान में बसने के लिए आए। उन्हीं लोगो ने जापानियो को रेशम के कीडो के पालन-पोषण, वस्त्र-निर्माण, धातुओ के ढालने तथा शराब बनाने आदि की व्यावहारिक शिक्षाएँ दीं। उन्होने ही लिखने तथा साहित्य-रचना करने की दीक्षा दी।

पीढ़ी-दर पीढी जनसख्या की स्वाभाविक अभिवृद्धि के साथ परिवार-पद्धति में विशृ खलता के कारण सामाजिक ढॉचे मे असामान्य परिवर्तन हुए। देश के राजनीतिक ढॉचे मे परिवर्तन इस तरह के सामाजिक परिवर्तनों का स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी परिणाम था।

जापान का अशोक

जापानी इतिहास की ठीक इसी घड़ी में शोतुकु तेशी का आविर्भाव हुआ। पजाब में जो स्थान गुरु गोविन्द सिंह का, राजस्थान मे महाराणा प्रताप का, महाराष्ट्र में शिवाजी का, सिंहल में ग्रामणी का और समस्त भारत में सम्राट् अशोक का है, वही स्थान जापान मे राजा शोतुकु का है। उसने न केवल राज्य-व्यवस्था ही की, न केवल बौद्ध-धर्म का जापानी-करण ही किया; बल्कि अनेक राजनीतिक सुधार भी किये। राजा शोतुकु का राजनीतिक चिन्तन राज्य को ही केन्द्र-बिन्दु मानकर चलता था। देवताओं के प्रति आदर-प्रदर्शन का वह पूर्ण आग्रही था। अपने प्रसिद्ध

सत्रह धाराओ के शासन-विधान मे उसने राजाज्ञा के पालन पर बडा जोर दिया है। उसीने शासन-पद्धति मे अनेक परिवर्तन किये और शिक्षा-पद्धति मे अनेक सुधार भी।

उसके नेतृत्व मे जापानी सभ्यता ने असाधारण उन्नति की। देवताओ के प्रति आदर-बुद्धि प्रदर्शित करने के अपने सिद्धात से तनिक भी इधर-उधर हुए उसने बौद्ध-धर्म को पूर्ण सरक्षण प्रदान किया। सेत्सु (ओसका) प्रदेश और नारा के समीप यमतो प्रदेश मे शितेन्नोजी और होरयुजी जैसे महान् मन्दिर उसीके बनवाये हुए हैं।

उसने न केवल बौद्ध मूर्तियो का निर्माण कराया, किन्तु स्वय भी बौद्ध सूत्रो पर व्याख्यान दिये।

भूमि-व्यवस्था

शोतुकु के लगभग बीस वर्ष बाद नक-नो-ओए गद्दी पर बैठा। उसने फ्युजिवारा कमतारि की सहायता से बडे पैमाने पर राजनीतिक सुधार किये। उस समय अकारण ही सोग परिवार के हाथों मे असीम अधिकार आ गया था। नक नो-ओए ने उस परिवार को ही समस्त राजनीतिक शक्ति का केन्द्र बनाया। राज्य की तमाम भूमि और तमाम प्रजा राज्य की सम्पत्ति मानी गई। छः वर्ष की आयु से अधिक हर किसी को (चाहे स्त्री हो या पुरुष) भूमि का एक निश्चित भाग सौंपा गया। उससे आशा की गई कि वह आजीवन उसे जोते और बोए। मरने पर वह भूमि पुनः स्वतः राज्याधीन हो जाती थी।

सम्राट् नक-नो-ओए ने अपने सुधार के प्रयत्नो को कभी ढीला नहीं होने दिया। उसने अपने समय के कानूनो और विधानो की एक स्मृति

तैयार करनी आरम्भ की, जो उसके जीवन काल मे समाप्त न होकर बाद मे सम्राट् मोमू के काल (६८३–७०७) मे समाप्त हुई। यह भी तेहु-स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि पुराने समय मे यह एक सामान्य प्रथा थी कि सम्राट् गद्दी पर बैठने पर अपनी नई राजधानी बनाता था। किन्तु तैतालिसवे सम्राट् गेम्यो (६६१–७२१) ने यमतो प्रदेश मे स्थायी दरबार और राजधानी की स्थापना की। यह हेयिजो-क्यो टी आगे चलकर नारा कहलाई। लगभग सत्तर वर्ष तक सात राजाओं ने नारा मे ही राज्य किया। इसीलिए यह युग सामान्यतया नारायुग कहलाता है।

बौद्ध धर्म का प्रचार और अभिवृद्धि नारायुग की विशेषता है। इसी समय नारा-स्थित बुद्ध की प्रसिद्ध कॉसे की मूर्ति ढाली गई। इस युग मे शिल्प और कला-कौशल ने भी विशेष उन्नति की। इस युग की वस्तुकला तथा शिल्पकला का प्रतिनिधित्व करनेवाली अनेक वस्तुएँ आजतक सुरक्षित हैं। नारा-स्थित तोदेजी मन्दिर के ऑगन मे एक भवन है, जहाँ इस समय तीन हजार से भी अधिक एक से एक बढ कर कलाकृतिया सुरक्षित हैं।

ह्यान युग

पचासवे सम्राट् कम्मु ने अपनी राजधानी नारा से हटा कर प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध ह्यानक्यो मे स्थापित की। वहा उसने एक नया नगर बसाया। यही आधुनिक क्योतो का श्रीगणेश था। लगभग चार सौ वर्ष का यह युग ह्यान-युग कहलाता है।

ह्यान-युग मे राजकीय घराने के प्रभाव और शक्ति मे विशेष वृद्धि

हुई। राजनीतिक सुधार किये गए। सा-इ-चो और कू-के जेसे प्रसिद्ध बौद्ध साधु इसी युग की देन हे। ह्यान-युग मे ही शनैः शनैः यह विचार प्रबल होता गया कि शितो-देवता और बुद्ध तत्वतः एक ही हैं। इसके परिणाम-स्वरूप देवताओ की पूजा करने की जापानी प्रवृत्ति और बौद्ध-धर्म मे समन्वय हो गया, जिससे बौद्ध-धर्म और भी अधिक जनप्रिय हुआ। नारा-युग की भॉति ही बडी व्यग्रता के साथ बौद्ध-धर्म का अध्ययन होने लगा। चीनी वाड्मय के एक से एक बढकर पडित हुए। न केवल दायग-कु (केन्द्रीय विश्व-विद्यालय) और को-कु-ग-कु (प्रान्तीय विद्यालयो) मे ही शिक्षण कार्य होता था किन्तु अभिजात्य-वर्ग के बच्चो के लिए स्थापित अन्य विद्यालयो मे भी।

सत राजा-गण

इस युग मे राजकीय घराने तक ने कई सन्त राजाओ तथा विदुषी रानियो को जन्म दिया। ह्यान-क्यो अथवा क्योतो के मूल सस्थापक सम्राट् कम्मु के अनेक कारनामे उस की बुद्धि तथा दूर-दृष्टि के समर्थक हैं। सम्राट् सग (७८६-८४२) न केवल गद्य और पद्य का योग्य लेखक था, किन्तु साथ ही अद्भुत् सुलेखक भी। महारानी दनरिन् अत्यन्त श्रद्धावान बौद्ध उपासिका थी। उसने अपने जीवन में अनेक दान और पुण्य के कार्य किए। सम्राट् जुन्ना (७८६-८४८) की रानी भी भक्ति-भाव मे किसी से कम न थी। उसने भी परोपकार के अनेक कार्य किए।

साहित्यिक कृतियॉ

सम्राट् दे-गो के राज्यकाल मे (८८५-६३०) मे जापानी अथवा चीनी वाड्मय के अनेक पडितो ने जन्म लिया। यह युग अनेक साहि-

त्यिक कृतियों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध है और सामान्यत. प्रकाश युग कहलाता है।

सम्राट् मुरकमी का काव्यकाल तेनरयक्यु-युग कहलाता है। इस नरेश ने प्रशासन के हित मे असाधारण परिश्रम किए। यही समय जापानी साहित्य के विकास का है। सम्राट् दे-गो की आज्ञा से कि-नो-त्सुरयुकि तथा अन्य कवियो ने मिलकर नई तथा पुरानी जापानी कविताओ में से एक उत्तम चयन तैयार किया, जिसका जापानी साहित्य मे बडा आदर है।

सम्राट् इचि जो (९८०–१०११) के समय जापानी साहित्य-गगन मे अनेक ज्योतिःपुंजो का उदय हुआ। सी-शोन-गोन नामक प्रतिभा की देवी का निबन्ध-सग्रह प्रसिद्ध है। नाम है मकुर-नो-सोशी। मुरसकि-शिकि-ब हमारे लिए गेन्-जी-मोनो-गतरी नाम का उपन्यास छोड़ गई है।

अभिजात्य-वर्ग का उस समय का जीवन पूरे ठाट-बाट और नाजो-नखरे का जीवन था—एशो-इशरत से परिपूर्ण। वे महलों मे रहते थे और उस भोग-विलासमय जीवन का पूरा मजा लेते थे जो धन से खरीदा जा सकता था।

जातीय भावना

मिनमोतो योरिमोतो ने सैनिक नेताओ के द्वारा अपने शासन की बुनियाद डाली। यह शासन-व्यवस्था १८६८ तक—लगभग सात सौ वर्ष जारी रही। स्वय मिनमोतो का अपना परिवार अट्ठाईस वर्ष से अधिक राजकीय वैभव को न भोग सका।

यह सैनिक नेतृत्व जापान की शासन-व्यवस्था मे एक नए वर्ग के

उत्थान का द्योतक था। इसी लिए कामाकुदा-युग की संस्कृति सरल है, सीधी है, जोरदार है। जापान के इतिहास मे प्रथम बार इसी युग में जापोनी-बौद्धधर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अस्तित्व मे आए। साहित्य के क्षेत्र मे काव्य-साधना सदा की तरह आकर्षण का विषय थी। शिल्प-कला और साथ-साथ चित्र-कला ने भी कामाकुटा-युग की आत्मा को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी। इसी युग मे जापानी जनता की तेजस्वी जातीय भावना ने पुष्टि पाई।

कुबले खाँ का आक्रणम

ठीक इसी समय जब जापान के सैनिक परिवार अपने सामरिक गुणों के विकास की चरम सीमा पर थे, चीन के युवान-वश ने अपने राजदूत भेजे। चगेज खॉ का पौत्र कुबले खॉ (१२१६–१२६४) युवान वश का सस्थापक था। वह एशिया तथा युरोप मे कई देशो को अपने अधीन कर चुका था। जापानी द्वीपो को भी अपने प्रभाव-क्षेत्र मे लाने के लिए सम्राट् कमेयामा के राज्यकाल (१२४६–१३०५) मे उसने अपने राजदूत भेजे। कामाकुटा के शासक तोकिमुने ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और इसके बाद आनेवाले सभी मगोल राजदूत उसकी आज्ञा से देश से बाहर निकाल दिये गए। तब सम्राट् गो-तो-ब के शासन-काल मे युवान सरकार ने अपनी ओर से एक आक्रामक दल भेजा। उसे मार भगाया गया। तब कुबले खॉ ने अपनी सेना भेजी—जिसमे एक लाख सैनिक थे। इस युद्ध मे जापानी सरक्षक सेना विजयी हुई। इस विजय का श्रेय जहॉ जापानी योद्धाओ के दृढ पराक्रम को है, वहॉ साथ-साथ

उस भयानक झंझावात को भी है, जिसे जापानियों ने दैवी सहायता माना।

राजकीय शक्ति

विजयी सैनिकों ने अपने सामरिक शासकों से पुरस्कृत होने की आशा की। उनका आर्थिक दिवाला निकल चुका था। परिणाम-स्वरूप वे सैनिकों के विश्वासपात्र न रहे। राजकीय घराने ने इस अवसर से लाभ उठाया। शक्ति फिर एक बार राज-परिवार की चेरी बनी। इस समय सम्राट् गो-दई-गो (१२८८–१३३९) शासक था।

जिन जनरलों ने सम्राट् गो-दे-गो को राज्याधिकार हथियाने में मदद दी थी, उनकी अपेक्षा सरदार, साधु और दरबारी-देवियाँ कहीं अधिक पुरस्कृत हुईं। योद्धाओं ने इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार को धिक्कारा। महलों के निर्माण के खर्च का बोझा भी स्थानीय सैनिकों के सिर ही पड़ा। इससे उनका रोष और भी बढ़ गया। शासन फिर एक बार सैनिकों के हाथ में चला गया।

अधिकांश सैनिक नेता और उनके अधीनस्थ व्यक्ति अशिकागा योशिमित्सु के प्रभाव में थे। वह प्रमुखता के मद में अपने आपको भूल गया। केतो में उसने अपने लिए एक उद्यान-गृह बनवाया, जहाँ एक तीन-तल्ला सुनहरी महल था और चारों-ओर मन को लुभानेवाला उद्यान। वहाँ वह अत्यन्त ऐशो-इशरत का जीवन व्यतीत करने लगा। योशिमित्सु के बाद शक्ति उसके नाममात्र के अधीनस्थ व्यक्तियों के हाथ में चली आई। उनमें आपस में द्वन्द्व आरम्भ हुआ। हालत उत्तरो-

त्तर इतनी खराब होती गई कि देश में गृह-युद्ध की चर्चा प्रबल हो उठी। लगभग एक शताब्दी तक बीसियों नेता सामरिक महत्व के स्थानों पर अपना-अपना अधिकार जमाकर राजकीय शक्ति हथियाने के लिए प्रयत्नशील रहे।

---

[५]

जापान का ऐतिहासिक विहंगावलोकन-(२)

यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से योशीमसा असफल रहा, किन्तु उसमे अनेक गुण थे। वह साहित्य और कला का पारखी था। राजनीति से बिदा लेकर उसने क्योतो मे हिगशियामा पर अपना एक सुन्दर उद्यानगृह बनवाया और उसमें रहने लगा।

मुरोमची-युग के अन्तिम भाग में ओद नोबुनग आसपास के समस्त प्रदेशों को अपने अधीन करने मे सफल हुआ। उसका उद्देश्य था कि वह शस्त्रबल से समस्त देश का एकीकरण कर सके। लगभग दस वर्ष के अटूट प्रयत्नो के फलस्वरूप जब वह सफलता के बहुत समीप आ पहुँचा था, १५८२ में उसी के एक जनरल अकोचे मित्सुहिदे ने उसका वध कर डाला। नोबुनग के एक प्रसिद्ध जनरल ने अपने मालिक के अधूरे काम को अपने हाथ में लिया। वह अपने आपको समस्त देश का शासक बनाने में सफल रहा। इस आदमी का नाम था तोयोतोमि हिदेयोशि—

जापान का नेपोलियन। वह यही नहीं रुका। १५९२ मे उसने अपनी एक सैनिक टुकडी चीनी सैनिको के विरुद्ध लड़ने के लिए कोरिया भेजी। लेकिन इस कोरिया-युद्ध के बीच मे ही १५९८ में उसकी मृत्यु हो गई और जापानी सेनाओ को वापिस बुला लेना पड़ा।

नोबुनगा और हिदेयोशि का समय अजचि-मोमोयामा युग के नाम से प्रसिद्ध है। यह नामकरण इन दोनो आदमियो के दो किलो के नामो पर किया गया था।

इस युग के जापानियो की प्रवृत्ति कुछ ऐसी थी कि उन्हे ठाट-बाट विशेष पसन्द था। उनकी सारी कला-कृतियों में पौरुष की आभा थी। सामान्य रुचि भी शान और दृष्टि की विशालता की ओर झुकी हुई थी। नृत्य, गान और सगीत का खूब प्रचार था। जोरुदि नाम के दृश्य-काव्य और अयतसूरि नाम के कठपुतली-नाच इसी युग में आरम्भ हुए। और हाँ, कबुकी नाटक भी।

हिदेयोशि के वाद देश में सर्वाधिक प्रभावशाली आदमी था तोकुगावा-इयेसु। जब हिदेयोशि का देहान्त हो गया तब इशिदा मित्सुनारी ने इयेसु के विरुद्ध षडयन्त्र किया। दो युद्ध हुए। किन्तु दोनो मे इशिदा मित्सुनारी को मुँह की खानी पड़ी।

इस समय जापानी समाज एक प्रकार से तीन वर्गो मे विभक्त था—एक कुजे (राजदरबारी), दूसरे बुके (योद्धा), तीसरे किसान और चीनिन (व्यापारी)। राजदरबारियो का सामाजिक दर्जा सबसे ऊँचा था, किन्तु उनके हाथ मे विशेष राजनीतिक अथवा आर्थिक सत्ता न थी। योद्धाओ के हाथ मे वास्तविक शक्ति थी और उन्ही का राजनीतिक तथा आर्थिक

क्षेत्र मे विशेष प्रभाव था। सामरिक वर्ग के अधीनस्थ रहकर नागरिक व्यापार मे और किसान खेती मे व्यस्त रहते थे।

योरोपीय प्रवेश

यह गृह-युद्ध-त्रस्त मुरमोचि-युग ही था जब कि योरोप से आनेवाले जल-यानो की सख्या बढ चली। जापान आनेवालो मे एक तो पुर्त्तगाल के नाविको का एक समूह था जो सम्राट गोनदा के शासन-काल मे १५४३ मे आया। जापान मे आग्नेय अस्त्र-शस्त्र लानेवाले ये ही प्रथम विदेशी थे। गृह-युद्ध-त्रस्त मुरमोचि-युग के लिए यह स्वाभाविक था कि सभी प्रदेशो मे आग्नेय अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त शीघ्रता से अपना लिये जायँ। पुर्त्तगाल के लोगो के कुछ समय बाद स्पेन के लोग आए। ये भी पुर्त्तगालियो की तरह जापानियो के साथ व्यापार ही करने लग गए। चूँकि ये विदेशी व्यापारी दक्षिण समुद्र के रास्ते जापान आए, इसलिए ये नम्बन-जिनही कहलाए जिसका मतलब है—दक्षिण के विदेशी।

ईसाइयत का प्रचार

पुर्त्तगालियो के प्रथम आगमन के बाद फ्रेंसिस जेवियर का आगमन हुआ, जिसने ईसाई धर्म का प्रचार किया। जापानियो ने इस नए धर्म को क्रिशितन्-शु कहना आरम्भ किया। ओद-नोब्रुन-गा के समय तक ईसाइयत का प्रचार बढता रहा, जिसने इसे अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की थीं।

लेकिन ईसाई प्रचारको ने इन सुविधाओ का दुरुपयोग करना आरम्भ किया। जब हिदेयोशि ने देखा कि ईसाई जनता की शाति-व्यवस्था के लिए खतरा बनते जा रहे हैं, तो उसने उनपर प्रतिबन्ध लगा दिए।

सन् १६०० में तोकुगावा इयेशु उन्नति के शिखर पर चढ़ता जा रहा था। उस समय डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक व्यापारी भटकता-भटकता जापानी समुद्र में आ पहुँचा। इयेसु ने जान जूस्तन नाम के एक हालैण्डवासी को और विलियम एडम नाम के एक अंग्रेज को जहाज पर से बुला भेजा और उनसे विदेशों की स्थिति के बारे में अनेक प्रश्न पूछे।

१६०६ में हालैण्डवालों को और उसके चार वर्ष बाद १६१३ में अंगरेजों को व्यापार करने की अनुमति मिली।

विदेशगमन

मुरमोचि-युग के बाद से जापानियों का विदेशगमन बहुत बढ़ गया। हिदेयोशि के समय में अनेक जापानी जहाजों ने विदेशों के लिए प्रस्थान किया। ईयसु ने नुएव हिसपनिया अर्थात् मैक्सिको तक अपने व्यापारी दूत भी भेजे ताकि उस देशों के लोगों के साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित कर सके।

जहाँ तक ईसाइयत का सम्बन्ध था ईयसु ने भी हिदेयोशि की बहिष्कार की नीति का ही अनुकरण किया। किन्तु, चूँकि इस नीति पर दृढ़ता से अमल नहीं किया गया और विदेश आना-जाना लगा ही था, इसलिए योरोपीय ईसाई प्रचारकों के लिए चोरी-चोरी देश में चले आने में कुछ विशेष कठिनाई न थी। इसलिए इमित्सु ने ईसाइयत के बहिष्कार की नीति को यथासम्भव कठोर बनाया। उसने ईसाई साहित्य का देश में आना निषिद्ध कर दिया, जापानियों का विदेश-गमन भी निषिद्ध कर दिया और वाहर गये हुए विदेशियों को देश में वापिस लौटने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

१६३७ मे अमकुसु और शिमबारा के ईसाइयो ने विद्रोह किया। विद्राह दबा दिया गया।

जिस समय जापान विदेशियो के लिए खुला हुआ था, उस समय पाश्चात्य ढग की कई सस्थाएँ जापान मे स्थापित हो गई।

इमित्सु का उत्तराधिकारी हुआ इत्सुन और इत्सुन का उत्तराधिकारी हुआ त्सुनयोशि।

यद्यपि इस युग की राजनीति भ्रष्टाचार की ओर झुकी रही, तो भी विद्या, साहित्य तथा कला की अभिवृद्धि के लिए यह समय अनुकूल रहा।

त्सुनयोशि का उत्तराधिकारी हुआ इयेनोबु और इयोनोबु का उत्तराधिकारी हुआ इयेत्सुगु।

तोकुगावा अर्थात् इदो युग मे ज्ञानोन्नति के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना की धारा गहरी और विस्तृत होती चली गई। जिन अध्ययनो ने इसमे विशेष सहयोग दिया उनमे राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन और शिन्तो धर्म का अध्ययन मुख्य थे। तोकुगावा मित्सुकनी द्वारा आरम्भ किया गया 'महान जापान का इतिहास' (दे-निहोन-शि) इस युग की प्रतिनिधि रचना है।

राजनीति मे स्वदेश-भक्ति के विचार के प्रसार के साथ-साथ राष्ट्रीय तट की सुरक्षा का प्रश्न गहरी चिन्ता का विषय बन गया था। कारण ? तटपर रूसी और ब्रिटिश जल-यान आ उपस्थित हुए थे। १७६२ और १८०४ मे रूस ने व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दूत भेजे। दोनो बार रूस की यह माँग अस्वीकार कर दी गई।

विदेशी व्यापारी

१८५३ में सयुक्त राज्य अमरीका का सेनानायक पेरी उरगा आ पहुँचा और जापान के साथ व्यापार करने की अनुज्ञा चाही। इसी वर्ष पूतियातिन नाम का एक रूसी राजदूत भी नागासाकी पहुँचा। उसका भी उद्देश्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना ही था। १८५४ मे सयुक्त राज्य अमरीका के साथ एक सधि की गई, जिसके अनुसार जापान के दो पत्तन अमरीकी जहाजो के लिए मुक्त कर दिए गए। यह सधि कनगावा की सधि के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके बाद इसी प्रकार की सधियाँ, ब्रिटेन, रूस और हालैण्ड से भी की गई। दो सौ वर्ष तक ससार के अन्य देशो से पृथक और सुरक्षित रहने की नीति का जापान को परित्याग करना पड़ा। अब वह भी दुनिया के राष्ट्रो की बिरादरी में से एक था।

सम्राट मेजी (१८५२–१९१२) के सिहासनारूढ होने के समय तक सैनिक-वर्ग के हाथो मे शासन की बागडोर सँभाले रखने की शक्ति नहीं रही थी। इसलिए वह फिर वापस राजकीय घराने के हाथ मे आ गई।

१८६८ मे शासन-सूत्र का पुनः सम्राट मेजी के हाथो मे आना जापान के इतिहास का एक नया परिच्छेद आरम्भ होना है। वह परिच्छेद है आधुनिकता का, वह परिच्छेद है आधुनिक राष्ट्रो की बिरादरी मे जापान के प्रवेश का।

आधुनिक राष्ट्रो की बिरादरो मे

१८६८ के मार्च मे सम्राट मेजी ने शासन के सिद्धान्तो की घोषणा

की जो सामान्यत. सम्राट की पॉच शपथे कहलाती है। इस प्रकार शासन की नीति स्थिर रूप से स्थापित हुई।

इसी वर्ष के जुलाई महीने में सम्राट ने इदो की यात्रा की और नगर का नाम बदलकर तोक्यो कर दिया। वह क्योतो भी गया, किन्तु अनल्पकाल में ही तोक्यो लौट आया और उसे ही राजधानी बनाया।

जो जापानी विदेशो से अध्ययन करके लौटे थे, उन्होंने और विदेशियो ने जापान मे विदेशी बातो का प्रवेश आरम्भ किया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि लोगो मे स्वतन्त्रता, समानता और नागरिक अधिकारो के विचार फैलने लगे। विचारवान जापानी देश मे पार्लमेण्टरी शासनपद्धति की स्थापना की इच्छा करने लगे। इसके लिए तरह-तरह के आन्दोलन हुए, सरकार ने भी युग की इस आवश्यकता को समझा। १८८१ मे एक राजकीय घोषणा हुई, जिसमें दस वर्ष बाद पार्लिमेण्टरी शासन-पद्धति को व्यावहारिक रूप देने का वचन दिया गया।

नई शासन-व्यवस्था

१८८५ मे सन् ६४५ से चली आनेवाली शासन-व्यवस्था का अन्त कर दिया गया और आधुनिक ढग के मन्त्रिमडल की स्थापना हुई। इतो हितोब्रुमी जापान का प्रथम प्रधान मन्त्री हुआ। १८८१ से जिस शासनविधान की रचना आरम्भ हुई थी वह १८८५ मे पूरा हुआ। १८८६ के फरवरी मास की ११ तारीख को इसपर सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर ली गई और यह प्रचारित कर दिया गया।

१८९० मे जापान की प्रथम पार्लियामेंट का अधिवेशन हुआ।

मेजी-युग की दो प्रधान घटनाएँ हैं जापान के दो युद्ध—एक चीन

के विरुद्ध (१८६४–१६०५), और दूसरा रूस के विरुद्ध (१६०४–१६०५)। इन दोनो युद्धो मे जापान के विजयी होने से उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत ऊँची उठ गई और उसकी पूँजीवादी प्रगति को पूरा प्रोत्साहन मिला।

मेजी-युग के आरम्भ मे जापान पश्चिम से राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र मे नया-नया ज्ञान प्राप्त करने मे लगा रहा। समय पाकर देश मे ऐसी अनेक प्रतिभाओ ने जन्म लिया जिन्होने बाहर के इस सारे ज्ञान को आत्मसात कर अपनी निजी आवश्यकताओ के अनुरूप मौलिक खोज आरम्भ की। औषधविज्ञान, शल्य-चिकित्सा और अस्त्र-शस्त्रो के विषय मे अनेक नई खोजे की गई। जापानी और चीनी वाङ्मय के अध्ययन ने भी, जो उपेक्षित हो गया था, पुनर्जीवन प्राप्त किया। साहित्य के क्षेत्र मे मेजी-युग के उत्तरार्द्ध ने अनेक महान कवियो, समालोचको तथा पाश्चात्य वाङ्मय के पडितो को जन्म दिया। नवीन तथा प्राचीन कलाकृतियो के सरक्षण का आन्दोलन बडे जोर–शोर से आरम्भ हुआ। वास्तु–कला, रँगना, बुनना और मिट्टी के बरतन बनाना जैसी उपयोगी कलाओ ने भी विशेष उन्नति की। अपनी जमीन मे पैर जमाए रखकर विदेशी सस्कारो से सस्कृत होना उनकी विशेषता रही।

वर्तमान युग

१६१२ मे सम्राट् मेजी का देहान्त हो गया और अब सम्राट् ताइशु सिहासनारूढ हुआ। नए सम्राट् के शासनकाल मे जापान के प्रभाव ने और भी अधिक उन्नति की। १६१४ मे प्रथम विश्वव्यापी युद्ध प्रारम्भ

हुआ। ब्रिटेन के सहयोगी के नाते आरम्भमें सहयोगी देशोंके साथ जापान सागर, भारतीय महासागर एव प्रशात मे विशेष रूप से जापान को ही लड़ना पड़ा और किसी हद तक भूमध्य-सागर म भी। विजयी राष्ट्रो मे से एक होने के कारण जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत ऊँची उठ गई। अब जापान ससार के "पचो" मे से एक था।

युद्ध के बाद सम्मेलन पर सम्मेलन हुए और ससार मे शाति बनाए रखने के लिए सधियो पर हस्ताक्षर किये गए। १९१९ मे वारसेल्ज के शाति-सम्मेलन मे ससार मे शाति बनाए रखने के उद्देश्य से एक नई सस्था को जन्म दिया गया। उसका नाम रखा गया—राष्ट्रो की सभा, (लीग आफ नेशन्ज)। जापान इस लीग की कौंसिल का एक सदस्य था।

१९२१ मे वाशिंगटन मे एक कान्फ्रेंस हुई और दो सधियो पर हस्ताक्षर हुए – प्रशात द्वीपो के सम्बन्ध मे चार शक्तियो का समझौता और चीन के सम्बन्ध मे नौ शक्तियो का समझौता हुआ।

१९२६ मे सम्राट तेशो का शरीरान्त हो गया और वर्तमान सम्राट गद्दी पर बैठा। १९२८ मे पेरिस मे युद्ध-विरोधी समझौते पर हस्ताक्षर हुए। दो वर्ष बाद लन्दन मे एक नाविक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ। १९३२ मे जिनेवा मे एक और कान्फ्रेन्स हुई, जिसका उद्देश्य भी अस्त्र-शस्त्रों मे कमी करना और उन्हे एक सीमा के भीतर रखना ही था। जापान ने इन सभी सम्मेलनो मे भाग लिया और सभी समझौतो पर हस्ताक्षर किए।

जिनेवा-सम्मेलन से पहले जापान की चीन से छिड़ गई थी। १९३२

मे जापान ने मचूरिया को चीन से स्वतन्त्र होने मे सहायता की। इससे इसका प्रभाव क्षेत्र स्वाभाविक तौर से बढ गया।

१९३७ मे स्वार्थों के सघर्ष ने जापान और चीन के विरुद्ध युद्ध का रूप धारण कर लिया। यह ऐसा युद्ध था कि अपन स्वार्थों के सरक्षण की दृष्टि से सयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन भी उससे बाहर न रह सकते थे।

यह विश्व-व्यापी युद्ध जापान के लिए सर्वथा आत्म-घाती सिद्ध हुआ। इस युद्ध ने जैसे एक बार जापान की रीढ की हड्डी ही तोड दी।

अब जापान फिर उठ रहा है—नया जापान। अब जापान फिर बढ़ रहा है—प्रजातन्त्र के पथ पर। लेकिन यह सब कुछ हो रहा है—अमरीकी छत्र-छाया के नीचे।

जापान के भविष्य के बारे मे कोई भी भविष्यवाणी सहज नहीं।

जापान की राजधानी तोक्यो-तो

जापान की राजधानी तोक्यो सुमिद नदी के तट पर स्थित हैं। तोक्यो कोई बहुत पुराना नाम नही है। नगर की स्थापना के समय उसका नाम था इदो। १८६८ मे जब राजधानी क्योतो से तोक्यो लाई गई, तब क्योतो के ही जबाब मे इसका नामकरण तोक्यो किया गया।

१६०३ मे तोकुगावा शासको के द्वारा शासन-व्यवस्था का केन्द्र मान लिए जाने के कारण इदो ने विशेष उन्नति की।

१६३२ मे आसपास के बहुत से नगरो और गॉवो को तोक्यो म्युनिसिपैलिटी की सीमा के अन्तर्गत ले लिया गया। इससे नगर सचमुच विशाल हो गया। १६४३ में विशाल तोक्यो ने तोक्यो-जनपद के शेप भाग को भी आत्मसात कर लिया। पहले तोक्यो का क्षेत्रफल था कुल २२१ १ वर्गमील और और अब हो गया ७६६ ५ वर्गमील। इसका फिर नया नामकरण किया गया—तोक्यो तो अर्थात् तोक्यो राजधानी।

विश्वव्यापी युद्ध

द्वितीय विश्व-व्यापी युद्ध मे इस नगर की अत्यधिक हानि हुई। हानि का कुछ लेखा इस प्रकार है—मृतक सख्या १,६७,००० जख्मी २८,६२,००० जले या नष्ट हुए घर ७,६७,००० वीरान हुई भूमि एकड़ ३४,३१० ।

युद्ध की समाप्ति के बाद पुनर्निर्माण का कार्य बड़े जोर-शोर से आरम्भ हुआ। परिमाण यह हुआ कि अब लगभग सारा मलवा उठा लिया गया है, मकान नए सिरे से बन गए हैं और आवागमन के साधन एक प्रकार से युद्ध-पूर्व अवस्था को पहुँच गए हैं। इस समय तोक्यो जनसख्या की दृष्टि से पेरिस के बाद ससार का चौथा महानतम नगर गिना जाता है। १६५० की गणना के अनुसार तोक्यो की जनसख्या ६२,७७,५०० थी। दक्षिणपूर्व का लगभग चतुर्थांश भाग (नगर का प्राचीन हिस्सा) शेप नए शामिल किए गए हिस्से की अपेक्षा अधिक घना बसा है।

जापान की शासन-व्यवस्था का केन्द्र है तोक्यो; शिक्षण का केन्द्र है तोक्यो, अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र है तोक्यो। नित नए बननेवाले कल-कारखानो का भी केन्द्र है तोक्यो।

नगर का वर्गीकरण

देश के सभी हिस्सो से यह रेलपथ और वायु-पथ से जुड़ा हुआ है और इसलिए घुमक्कड़ों के लिए हर प्रकार से सुविधाजनक है।

नातिकाल पूर्व के एक कानून द्वारा नगर २३ भागो मे बॉट

दिया गया है। खास तोक्यो अथवा तोक्यो का केन्द्रीय हिस्सा मोटे तौर से दो भागो मे बँट गया है—(१) यमते अर्थात् ऊपरी भाग [निवास तथा शिक्षण क्षेत्र] और (२) शितमाची अर्थात् निचला भाग [व्यापार तथा कलकारखानो का क्षेत्र]। नगर के आठ विभाग इन दोनो भागों के अन्तर्गत हैं, शेष १५ विभाग नगर के उस हिस्से के हैं जो १९३२ मे आत्मसात किया गया।

इतिहास का रेकार्ड

नगर की व्यवस्था एक शासक द्वारा होती है, जिसे नागरिक चुनते हैं। उस शासक की सहायता के लिए १२० सदस्यो की एक कौंसिल है। १९२३ के भूकम्प और अग्निदाह से नगर की अभूतपूर्व हानि हुई; किन्तु नगर के पुनर्निर्माण का सारा कार्य साढे सात वर्ष मे ही समाप्त कर दिया गया। इस कार्य पर तोक्यो ने ७०,००,००,००० येन खर्च किए। इतने थोडे समय में इतना बड़ा पुनर्निर्माण ससार के इतिहास मे एक रिकार्ड है। इसी के परिणामस्वरूप तोक्यो ससार की एक महान राजधानी बन गया था—बड़े-बडे विशाल भवनो से अलकृत तथा बडे-बडे राजपथों से युक्त।

लेकिन, दूसरे विश्वयुद्ध के हवाई आक्रमणो ने १९४५ मे फिर इसका सत्यानाश कर डाला। पिछले सात वर्षों में लोगो की दमनीय भावना ने नगर को फिर पूर्ववत खड़ा कर लिया है!

तोक्यो कोई पुराना नगर नहीं है। इसके पुराने नाम 'इदो' का प्रथम उल्लेख बारहवीं शताब्दी का है। उस समय यह एक छोटा सा गॉव-मात्र था। एक पुरानी जापानी कविता है—

मुसशिनो वा
त्सुकि नो इरुबेकि
यम मो नशि
कुस योरि इदेते
कुस नि कोसो इरे ॥

[मुसशि के विस्तृत मैदान मे कही कोई पहाडी नहीं है। वहाँ चन्द्रमा हरी घास के समुद्र पर अस्त होता है।]

बारहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक इदो शनै-शनैः तोक्यो हो गया और हो गया ससार का चौथा विशाल नगर।

राज-प्रासाद

१८६६ मे जब अन्तिम शोगुन शासक ने राजा को अपने सर्वाधिकार सौंप दिए, राज-दरबार क्योतो से तोक्यो चला आया।

राजप्रासाद मे अन्दर के घेरे के अतिरिक्त उसका बाहरी उद्यान-क्षेत्र है। भीतरी विभाग में अनधिकृत लोगो का प्रवेश निषिद्ध है। सामान्य जनता नववर्षारम्भ के दिन और सम्राट के जन्मदिन अर्थात् २४ अप्रैल को—दो दिन प्रासाद देखने जा सकती है। गत युद्ध मे राजप्रासाद का बहुत-सा हिस्सा जलकर राख हो गया।

अन्दर के घेरे के चारों ओर खाइयों की शृङ्खला है। सामने की खाई के बाहर की ओर प्रासाद के बाहरी-उद्यान हैं।

राजभक्त कुसुनोकि मसशिगे (१२६४-१३३६) की एक अश्वारोही कॉसे की मूर्ति उद्यान के दक्षिण-पूर्व कोने मे स्थापित है।

सकुर्द-मोन द्वार ही पहले राजाप्रसाद का मुख्य द्वार था। इसके सामने और आसपास ही अनेक बड़े-बड़े सरकारी विभाग हैं।

जातीय सविधान-भवन

२१५ फुट ऊँची यह प्रभावोत्पादक इमारत जापान की सबसे ऊँची इमारत है। इसके मध्य मे एक ऊँचा शिखर है, जो अच्छा लगता है। इसके निर्माण मे १८ वर्ष लगे और २५,८०,००,००० येन खर्च हुए। १९३६ के अक्तूबर महीने मे यह भवन बनकर समाप्त हुआ। इसकी तारीफ यह है कि इसके निर्माण मे कोई भी विदेशी सामग्री काम मे नहीं लाई गई है। जातीय-संविधान भवन का क्षेत्रफल कोई १७ एकड़ है—जिसमें से तीन एकड़ मे भवन है और शेष भूमि-प्रदेश। कमरो की सख्या है ३९०। दक्षिण भाग मे मनोनीत सदस्यो का भवन है, जिसमे ४६० स्थान हैं और वामभाग मे निर्वाचित सदस्यो का भवन है, जिसमे ४६६ स्थान हैं। दोनो सदनों के सदस्यो की निश्चित सख्या है, २५० और ४६६। मनोनीत सदस्यो के भवन मे दर्शको के लिए ७७० स्थान हैं और प्रतिनिधि सदस्यो के भवन मे ९२२। विदेशी दर्शक भी दर्शक की हैसियत से आकर बैठ सकते हैं, किन्तु पूछताछ के कार्यालय में हस्ताक्षर करना उनके लिए अनिवार्य है। भवन के केन्द्रीय-हाल में स्वर्गीय इतो, ओकुमा, इतगाकी की मूर्तियाँ हैं—तीनो आधुनिक जापान के महान नीतिविद और तीनो का आधुनिक वैधानिक सरकार के निर्माण मे विशाष श्रेय।

तोक्यो-केन्द्रीय रेलवे स्टेशन

यह नगर के व्यापारिक केन्द्र के समीप है। १९२४ मे २५,००,०००
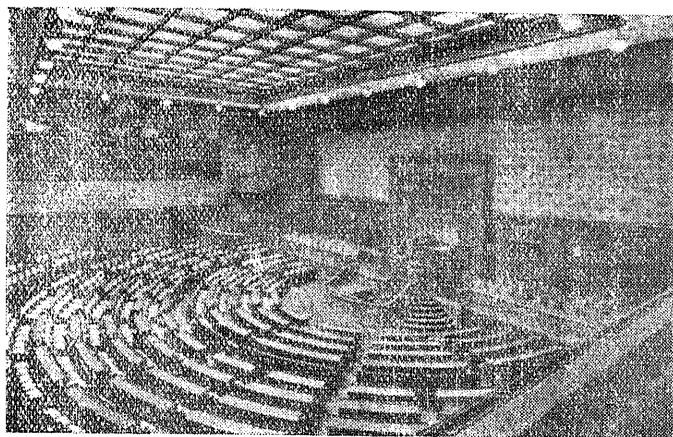
जातीय संविधान भवन (पृ० ५४-५५)

येन की लागत से बनकर तैयार हुआ—क्षेत्रफल लगभग ५२ एकड़। ऊपरी भाग में तोकियो स्टेशन होटल है। यह तोक्यो का सर्वाधिक कार्य-व्यस्त स्टेशन है। १९४८ की गणना के अनुसार इस स्टेशन पर प्रति-दिन २,४५,९०२ यात्रियों का गमनागमन हुआ।

यसुकुनि देवालय

यह एक शिन्तो मन्दिर है और समर्पित है उन हुतात्माओं को जिन्होंने देश के लिए अपने प्राण दिए। इनमें कुछ तो वे लोग हैं जो १८६८ के पुनर्शक्ति लाभ में मुख्य थे; किन्तु अधिकांश वे सैनिक और नाविक हैं जो १८६९ और १८७७ के गृहयुद्धों में काम आए और साथ ही वे भी हैं जिन्होंने १८९४-९५, १९०४-५, १९१४-१८, १९३१-३२ और १९३७-४५ के युद्धों मे अपने प्राण न्योछावर किए थे।

मुख्य द्वार के बाईं ओर स्वर्गीय शिनगावा वजिरो (१८४३-१९००) की एक काँसे की मूर्ति है।

बाहरी आँगन में प्रस्तर-प्रदीपों की पंक्ति के मध्य सम्राट् मेजी के हाथ में शक्ति आने के बाद के प्रथम युद्ध-मन्त्री ओमुर मसुजिरो की भी एक काँसे की मूर्ति है।

वाहन चिकित्सालय

मनसीबाशी पुल के समीप ही यह अजायबघर है। इसमें लगभग दो हजार चीजें इस क्रम से रखी हुई हैं कि १८७२ से रेलों और दूसरे गमनागमन के साधनों में जापान ने जिस प्रकार प्रगति की है उसका पूरा बोध हो जाता है। अत्यन्त प्रशंनीय एक वस्तु रेल का वह इंजन

स० १ है जिसकी रचना 'लकाशायर (इगलैंड) मे १८७१ मे हुई और जो १८७२ में तोक्यो-योकोहामा रेलवे के प्रारम्भ के समय पहले-पहल काम में लाया गया।

इस विचित्रालय की व्यवस्था जापान यात्री-विभाग कीओर से होती है। प्रवेश होता है टिकट द्वारा। बडो के लिए २० येन—बच्चो के लिए १० येन।

जापान मे पहला अँगरेज

प्रसिद्ध निहोमबाशीपुल के दोनो ओर जो चौड़ी सड़क है—वह तोक्यो का सबसे अधिक व्यस्त राजपथ है। उसी राजपथ के पीछे की एक गली मे, सत्रहवीं शती मे, अँग्रेज नाविक विलियम एडम रहता था। उसके निवासस्थान की स्मृति बनाए रखने के लिए इस गली के रहनेवालो ने १९३० की २८ जुलाई को एक स्मारक खडा किया है। उसपर लिखा हुआ है—

"मियुरा अजित नाम से विख्यात विलियम एडम की स्मृति मे,—जो जापान मे बस जानेवाला पहला अँग्रेज था, जो १६०० मे 'चैरिटी' नामक जहाज को लेकर आया; जो इस स्थान पर बने हुए एक घर में निवास करता था; जिसने प्रथम तोकुगावा शासक इयेसु को बन्दूक चलाने की शिक्षा दी और भूगोल तथा गणित आदि सिखाया; जिसने विदेशी मामलो में मूल्यवान सेवाएँ की, जिसने मिस मगोय नाम की एक जापानी स्त्री से विवाह किया और जो ४५ वर्ष की आयु में १६ मई १६२० को मर गया।"

बयबाशी पुल से शिमबाशी पुल तक गिर्जा का फैलाव है। यह नई

दिल्ली का बारहखम्भा है या कलकत्ता का धर्मतल्ला है। रात को यदि कोई इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला जाय तो वह तोक्यो की रंगीनी का मजा लूट सकता है—एक से एक बढकर चमकती हुई दूकानें।

गिर्जा से थोड़ी ही दूर पूर्व की ओर तोक्यो का एक सर्वाधिक जनप्रिय थियेटर है। १६५० में २८,१०,००,००० येन की लागत से इसका पुनर्निर्माण हुआ है। यह सचमुच आधुनिक जापानी वास्तुकला का एक बढिया नमूना है। इस थियेटर मे २६०० आदमी बैठ सकते हैं।

त्सुकुजी हागजी

क्योतो मे बौद्ध धर्म के जोदोशिश सम्प्रदाय का जो विशाल मन्दिर है, यह उसीका एक शाखा-मन्दिर है। १६३० मे इसकी स्थापना हुई। तब से न जाने कितनी बार इसमें आग लग चुकी है। अंतिम बार १६३३ मे इसका विनाश हुआ। यह १६३५ मे नए सिरे से बनाया गया। वर्तमान मन्दिर आग और भूकम्प के भय से मुक्त एक विशाल भवन है। यह प्राचीन भारतीय शिल्प-कला के अनुसार बना है। इसकी सजावट मे प्राचीनता और आधुनिकता का सुन्दर मेल है। जिस बड़े हाल मे अमिताभ बुद्ध प्रतिष्ठित हैं, वहाँ १००० भक्तो के बैठने की जगह है। इस मन्दिर में प्रायः अन्य मन्दिरों में न पाई जानेवाली सभी आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

जोजोजी (मदिर)

यह शिक्षा-पार्क के केन्द्र मे स्थित है, जो किसी समय जोजोजी की

भूमि का ही एक हिस्सा था। बौद्ध धर्म के जोदो सम्प्रदाय का यह कन्तो प्रदेशस्थित प्रधान केन्द्र है। इसकी स्थापना का काल अज्ञात है, किन्तु १५६० मे यह निश्चितरूप से था। तब मे १८६८, १६०६ और १६४५ मे यह तीन बार अग्निसात होकर फिर-फिर नया बन चुका है। जोजोजी में दो सौ से अधिक ऐसी ऐतिहासिक महत्व की चीजे हैं, जिनकी 'महत्वपूर्ण सास्कृतिक सामग्री' का हैसियत से रजिस्ट्री हो चुकी है।

सेगकुजी (मन्दिर)

शिवा पार्क के लगभग दो मील दक्षिण-पश्चिम यह ४७ 'रोनिनो' की समाधियो के लिए प्रसिद्ध है। ये स्वामी-विहीन सामरिक (रोनिन) असनो नगनोरि के अनुचर थे। १७०७ मे इसे आत्म-हत्या करने की आज्ञा दी गई, क्योंकि योशिनक द्वारा अपमानित होने से इसने भरे दरबार मे तलवार निकाल ली थी। असन के अनुचरों ने अपने स्वामि के अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। उन्होने घोषणा कर दी कि अब वे असनो के अनुचर नहीं रहे। इससे योशिनक असावधान हो गया। अगले वर्ष १४ दिसम्बर की रात को उन्होंने उसके महल मे घुसकर उसे मार डाला। बदला लेकर और अपने स्वामि के शत्रु का कटा हुआ सिर स्वामि की समाधि पर चढाकर उन्होने अधिकारियो को अपने इस कृत्य की सूचना दी और शान्तिपूर्वक उनके निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ हिचकिचाहट के बाद अधिकारियो ने निश्चय किया कि अपराधियों के लिए यही दण्ड हो सकता है कि वे आत्महत्या कर ले। अगले वर्ष

१४ फरवरी को सभी ने एक-साथ यह दारुण कृत्य किया। उनकी आयु के साथ उनके नाम, उनकी समाधियो पर आज भी अंकित हैं। सबसे छोटे की आयु थी १५ वर्ष और सबसे बडे की ७७ वर्ष। इन 'स्वामि-विरहित' सैंतालीस रोनिनो के नेता ने अपने स्वामि की समाधि पर जो अंतिम निवेदन पढा था, वह आज भी मन्दिर में सुरक्षित है और किसी भी सहृदय को बिना चार आँसू रुलाए नहीं रहता।

---

[७]

दो धर्मों का देश

बहुत बार सुना है कि जापानियो के जीवन मे धर्म के लिए बिल्कुल स्थान नहीं ।

सचमुच यदि धर्म के लिए जीवन मे स्थान होने का मतलब आदमी का 'धर्म' देखकर उसके साथ उठना-बैठना, उसके हाथ का पानी पीना या न पीना है—तो जापानियो के जीवन मे 'धर्म' को स्थान नहीं है ।

यदि 'धर्म' के लिए जीवन मे स्थान होने का मतलब आदमी का 'धर्म' देखकर उसके हाथ का खाना अथवा न खाना है—तो जापानियो केजीवन में धर्म के लिए स्थान नहीं है ।

यदि 'धर्म' के लिए जीवन मे स्थान होने का मतलब आदमी का 'धर्म' देखकर उसके साथ शादी-विवाह करना है—तो जापानियो के जीवन में धर्म के लिए स्थान नहीं ही है ।

यदि धर्म के लिए जीवन में स्थान होने का मतलब 'धर्म' के नाम पर सिर-फोड़ौव्वल करना और कट मरना है—तो सचमुच जापानियों के जीवन मे 'धर्म' के लिए स्थान नहीं है ।

किन्तु यदि····· यह किन्तु एक बड़ा किन्तु है ।

शिन्तो धर्म का उदय

इतिहास की उषाकालीन रेखा ने जापानियों को मनमाने ढग पर प्रकृति और मृत आत्माओं की पूजा करते हुए पाया । शनै-शनैः प्रकृति-पूजा की पृष्ठभूमि में इसी पूजा ने वीर-पूजा तथा पूर्वज-पूजा का रूप धारण कर लिया । इसी का नाम हुआ शिन्तो धर्म ।

ईसा की तीसरी शताब्दी में कन्फ्युशियस धर्म और छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म के देश मे आगमन के फलस्वरूप जाति नए-नए विचारो से धनवान हो उठी । बौद्ध-धर्म ने उच्चतर विचारों की प्ररणा देकर तथा कला और साहित्य को उत्साहित कर एक नई सभ्यता के निर्माण मे पूर्ण सहयोग दिया । इस नए धर्म ने जापान को शिल्प सिखाया; विज्ञान सिखाया, साहित्य दिया, दर्शनशास्त्र दिया; और इस धर्म ने ऐसी प्रगति की कि सातवीं शती मे एक प्रकार से सारा देश पूर्णरूप से बौद्ध हो गया था ।

आठवीं और नवीं शती के अन्तिम भाग मे जातीय एकता और एक केन्द्रिय सरकार को बौद्ध-शासन का पूरा सहारा मिलने से बाद की तीन शतियो मे देश का सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन वहुत कुछ इस परिस्थिति के अनुरूप हो गया । लोगों की भावनाएँ बौद्ध

धर्म से प्राप्त एक बलवती गहरी प्रेरणा से अनुप्राणित हुई। एक प्रकार से दसवी शती ही साहित्य और कला के श्रीगणेश का युग है।

बौद्ध धर्म का नया रूप

जापान मे तेरहवीं शती इतिहास के एक विशेप परिच्छेद का आरम्भ करती है। राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनो के साथ-साथ लोगो की आध्यात्मिक आवश्यकताओ के अनुरूप बौद्ध धर्म के भी कई रूप हो गए। बौद्ध धर्म एक जातीय धर्म न रहकर व्यक्तिगत आचरण का विपय बन गया।

युग की आवश्यकताओ ने ऐसे बौद्ध नेताओ को भी जन्म दिया जो एक ओर आध्यात्म के आचार्य थे और दूसरी ओर थपूरे योद्धा।

चौदहवीं शती की राजनीतिक क्रान्ति और गृह-युदध जैसी उथल-पुथल से लाभ उठाकर कुछ जापानी नेताओ ने अपने शिन्तो धर्म को पुन. जीवित और प्रचारित करना चाहा। उनका प्रयत्न था कि राजाज्ञा को सभी नैतिक धारणाओं से ऊँचा स्थान मिले।

लेकिन परिस्थिति इन देशभक्त नीतिकारो के प्रतिकूल थी। सामाजिक जीवन मे विशृङ्खलता वृद्धि पर थी। सामन्त परस्पर एक दूसरे से लड़ रहे थे। यह गड़बड़ी लगभग दो सौ वर्ष तक चलती रही। १६ वीं शती में ईसाई पादरियों के आगमन ने इस गडबडी को और भी उत्तेजित किया।

१७ वीं शती के आरम्भ मे जब शाति और राजनीतिक एकता स्थापित हो सकी, तब सभी ईसाई पादरियो को देशनिकाला दिया गया और एक प्रकार से यूरोपियन देशो के साथ सभी प्रकार के सम्बन्धो का

विच्छेद कर लिया गया। इससे जहाँ एक ओर देश सुरक्षित रहा, वहाँ दूसरी ओर बाहरी सम्बन्ध विच्छेद के परिणामस्वरूप देश के सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन मे भी एक प्रकार की 'कूपमण्डूकता' आ गई।

इस समय देश मे बौद्धधर्म ने काफी प्रगति की। उसे पर्याप्त राज्याश्रय मिला।

शिन्तो धर्म

शिन्तो जापान का स्वदेशी धर्म है—प्रकृति-पूजा, पूर्वज-पूजा और देव-पूजा का सम्मिश्रण। इनकी देवतामण्डली मे अनेक प्रकार के देवी-देवता हैं—प्रकृति के देवी-देवता, समुद्र के देवी-देवता, नदियों के देवी-देवता, पर्वतो के देवी-देवता, वायुदेवता, अग्निदेवता और देवपदवी को प्राप्त हुए अनेक वीर पुरुष।

अपने आरम्भ काल मे शिन्तो धर्म के पास न कोई देव-वाद था और न सदाचार शास्त्र। इसकी शिक्षा थी—आदमी का हृदय तत्त्वतः शुद्ध है। अपने हृदय की सच्ची प्रेरणाओं के अनुसार कार्य करो। मातृपितृ-भक्ति, जिसका लोगों के जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, छठी शती मे आगत बौद्ध धर्म के साथ कन्फ्युशियसधर्म की प्रधान देन है।

इन प्रभावो के अतिरिक्त शिन्तो धर्म पर बौद्ध धर्म का अद्भुत प्रभाव पड़ा जिसकी पराकाष्ठा शिन्तो धर्म का द्वैतवाद है। इसके अनुसार बौद्ध धर्म क सभी देवी-देवता देव-योनि के अविनाशी अश है और शिन्तो धर्म के देवी-देवता हैं उन्ही देवताओ के अ श अथवा अवतार। इस व्याख्य

के अनुसार प्रत्येक शिन्तो-देवता किसी-न-किसी बौद्ध देवी-देवता का अवतार हो गया। दोनों-धर्मों के देवता-वाद का क्या सुन्दर समन्वय।

शिन्तो धर्म का स्वामी दयानन्द

यह स्थिति लगभग एक हजार वर्ष तक रही। १७ वी शती मे यह देव-वाद कुछ और व्यवस्थित किया गया। इस सम्बन्ध मे इचिजो कनेरा (१४०२–१४८१) का नाम अविस्मरणीय है। वह शिन्तो धर्म का 'स्वामी दयानन्द' था। कनेरा की घोषणा थी कि यद्यपि शिन्तो धर्म अनेक देवताओ के अस्तित्व की शिक्षा देता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वे सभी एक हैं। प्रत्येक देवता भूतात्मा के किसी कर्त्तव्य-विशेष का प्रतीक ही तो है। तमाम देवता अन्ततोगत्वा 'एक' ही हैं।

१८ वीं शताब्दी मे शिन्तो धर्म ने एक नई पगडण्डी पर पैर रखा—वह एक नए पथ का पथिक बना। सभी पुराने शिन्तो व्याख्याकार अपने सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए बौद्ध धर्म और कन्फ्युशियस धर्म पर निर्भर करते थे। अब समय आया जब शिन्तो धर्म को तमाम बाह्य प्रभावो से मुक्त कर 'शुद्ध' शिन्तो धर्म की स्थापना का प्रयत्न किया गया। आठवीं शती के प्राचीन लेखो के भाषा-शास्त्र की दृष्टि से किए गए अध्ययनों की सहायता से यह कार्य हो सकता था। 'शुद्ध' शिन्तो धर्म का सबसे बड़ा पक्षपाती और उतना ही बड़ा भाषाशास्त्रतत्त्वविद् था मोतो-ओरी-नोरिगन (१७३०–१८०१)। उसका कहना था कि यदि शिन्तो धर्म को तमाम बाहरी प्रभावो से मुक्त कर दिया जाय तो वही मानवता का सर्वश्रेष्ठ एव प्राचीन मूल धर्म है।

१६ वीं शती के पूर्वार्द्ध में शिन्तो धर्म में जो नई जागृति हुई,

उसका एक और भी पहलू था। शिन्तो धर्म ने अनेक जनप्रिय नेताओ को जन्म दिया।

शिन्तो धर्म के दो रूप हैं—(१) साम्प्रदायिक शिन्तो, (२) जिन्श शिन्तो। जिन्श का मतलब है एक खास ढग से बना हुआ मन्दिर। १६४५ तक यह जिन्श-शिन्तो ही राजकीय शिन्तो आदि नामो से पुकारा जाता रहा।

शिन्तो मन्दिरो का खर्च

राज्याधिकृत जिन्शो अथवा शिन्तो मन्दिरो का खर्च या तो केन्द्रीय सरकार देती थी या स्थानीय अधिकारी। १६४५ में धर्म-व्यवस्था-विधान के प्रचारित होने के साथ इन मन्दिरो को मिलनेवाली सारी सरकारी सहायता वन्द कर दी गई। अब इन मन्दिरो का अस्तित्त्व उनके श्रद्धालु भक्तो पर ही निर्भर करता है।

१६४६ मे ऐसे मन्दिरो की सख्या थी ७,८०२ और पुजारियो की सख्या १४,८७४ थी। साम्प्रदायिक शिन्तोधर्म के लगभग १६० उपसम्प्रदाय हैं।

देवताओ की पूजा

शिन्तो धर्म के अनुसार पूजा का अर्थ है नमस्कार, भेट और प्रार्थना। नमस्कार—नम्रतापूर्वक झुके रहने का नाम है। यह एक या दो मिनट तक ही हो सकती है। देवता को चढाई जानेवाली भेट प्रधानरूप से भोजन तथा कोई पेय पदार्थ ही होता है। पहले कपडा भी रहता था, किन्तु अब उसके प्रतीकस्वरूप कागज की लम्बी पतली पट्टियाँ रहती हैं जिनसे कपडे

की लम्बाई का बोध होता है। ये पट्टियाँ किसी लकड़ी की डण्डी अथवा पेड़ की टहनी से बँधी रहती है और वेदिका पर रख दी जाती है।

शिन्तो धर्म के अनुसार देवताओ को जो भेंट चढाई जाती है वह उनका आध्यात्मिक भोजन है, ठीक उसी प्रकार जैसे जिन्शा अथवा मन्दिर उनका स्थायी पवित्र निवास-स्थान। भेंट के बाद प्रार्थना होती है। प्रार्थना के भावो मे उसके शब्दो और उसके कहने का ढग कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पूजा से पहले पवित्रता अनिवार्य है। वह तीन तरह की होती है और तीन ही तरह से प्राप्त हो सकती है। देवताओ के विरुद्ध कोई अपवित्रता का व्यवहार हो गया तो वह अपवित्रता किसी पुजारी के उक्त कागज की पत्तियोवाली छडी के सिर सर झटका देने से दूर हो जाती है। किसी अपवित्र वस्तु के सम्पर्क से अपवित्रता आ गई हो, तो वह नमक और पानी छिड़क देने से दूर हो जाती है। और, एक तीसरे प्रकार की अपवित्रता जो दूर करने से नहीं किन्तु साक्षात पवित्रता के ग्रहण से दूर होती है। यह साक्षात पवित्रता कुछ कर्मों से विरत रहने पर ही प्राप्त होती है, जिसकी चेष्टा करना गृहस्थो का नही—प्रधान रूप से—पुजारियों का ही काम है।

पहले शिन्तो धर्म के पुजारियो को मृत व्यक्तियो के सस्कारो से कोई वास्ता न था। यह कार्य बौद्ध पूजको को सौंप दिया जाता था। अब शिन्तो पुजारियो में ऐसे सस्कारो का काफी प्रचलन हो गया है।

कुछ वर्ष पूर्व तक न शिन्तो धर्म मे और न बुद्ध-धर्म में ही विवाह-

करुणा की मूर्ति (पृ० ६६–६७)

सस्कारो का कोई स्थान था। अब शिन्तो मन्दिरो मे जाकर विवाह करना एक आम बात हो गई है।

बौद्ध धर्म

जिस समय ५२२ ई० मे कोरिया से जापान को बुद्ध की मूर्ति और शास्त्र भेंट किए गए, वही समय जापान मे बौद्धधर्म के प्रवेश का श्रीगणेश समझा जा सकता है। इसके बाद ही भिक्षु आए, भिक्षुणियाँ आईं और मन्दिरो तथा मूर्तियो के शिल्पी आए। आधी शती के बाद सम्राट् शोतुक का सरक्षण पाकर बौद्ध धर्म ने न केवल राज-दरबारा मे, किन्तु देश मे भी अपने पैर दृढता से जमा लिए। भारत मे बौद्ध धर्म के लिए जो कुछ अशोक ने किया वैसा ही कुछ जापान मे बौद्ध-धर्म के लिए राजकुमार शो-तो-कुकर कर सका। उसने न केवल बौद्ध-धर्म को शासन का धर्म बनाया बल्कि उसने देश की शासन-व्यवस्था भी बौद्ध शिक्षाओ के अनुसार चलाने का प्रयत्न किया। उसने बौद्ध मन्दिर बनवाए, विहार बनवाए, अस्पताल बनवाए, अनाथालय बनवाए और निराश्रित लोगो तथा वृद्ध विधवाओ के लिए आश्रय-स्थान बनवाए। इसमे तनिक सन्देह नही कि जापान को भारत की सबसे बड़ी देन बौद्ध धर्म ही है। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे करेगे।

[८]

जापान को भारत की देन—बौद्ध धर्म

जापान मे बौद्ध धर्म का जो रूप स्थापित हुआ, वह सामान्यतः महायान कहलाता है। आरम्भ में उसमे कही कोई सम्प्रदाय नही था, लेकिन पीछे जाकर वह कई सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया। इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यो ने बौद्ध सूत्रो पर अद्भुत भाष्य लिखे। वे सभी इस बात के प्रमाण हैं कि जापानियो ने किस उत्साह से बौद्ध धर्म को अपनाया। बौद्ध धर्म उनके लिए एक नया दर्शन था, एक नया विज्ञान था, एक नई संस्कृति थी; कुशल प्रेरणाओं का एक निरन्तर बहता रहनेवाला स्रोत था।

बौद्ध धर्म का जापानीकरण

प्रारम्भ में जापानी बौद्ध धर्म का रग-ढग एक प्रकार से सोलहो आने चीनी रग-ढग का था। आठवी शताब्दी मे यह—पर्याप्त मात्रा मे—राष्ट्रीय

रग में रँग गया। शिन्तोधर्म के देवी-देवताओं का बौद्ध धर्म द्वारा अपनाया जाना ही बौद्ध धर्म का जापानीकरण है।

बौद्ध धर्म मे इस धार्मिक क्रान्ति को लाने का श्रेय दो जापानी भिक्षु महापुरुषो को है—एक तो तेन्दाई सम्प्रदाय के सस्थापक देनग्यो-डेशी (७६७–८२२) को, और, दूसरा शिन्गोन सम्प्रदाय के सस्थापक कोबो-डेशी (७७४–८३५) को।

चार शतियों तक देश में यही दो सम्प्रदाय सब कुछ थे। काल ने इन्हे जग लगा दिया। तब इनका परिमार्जन करने के उद्देश्य से बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियो में और चार बौद्ध सम्प्रदायो ने जन्म लिया—(१) जैन, (२) जोदो, (३) शिन और (४) निचिरेन।

जैन शब्द पाली 'झान' और सस्कृत 'ध्यान' का ही क्रमागत रूप है। 'जैन' जापानी बौद्ध धर्म का ध्यानी सम्प्रदाय है—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। 'जैन' शास्त्र आचरण पर जोर देता है और शुद्धि के लिए योगाभ्यास को अनिवार्य मानता है।

किसी भी 'जैन' विहार मे पद्मासनस्थ शान्तिस्वरूप भिक्षुओ का दर्शन उसकी अपनी विशेषता है। योगाभ्यासियो के अभ्यास के समय ध्यानाचार्य्य एक लम्बी लकड़ी लिये हुए पक्ति के बीच मे स्थिर नपी-तुली गति से अत्यन्त जागरूक रहकर टहलता रहता है। कोई अभ्यासी, यदि उसकी दृष्टि मे तन्द्रालु हो गया, तो वह उसके कन्धे पर पूरे जोर से लकड़ी की उस चपटी का प्रहार जमा ही देता है। ऐसी आवाज से ताड़ित भिक्षुक ही नहीं, आसपास के भिक्षु भी चैतन्य हो जा सकते हैं।

'जैन' का कहना है कि—भीतर देखो, वहाँ तुम्हे बुद्ध के दर्शन होगे।

जैन सम्प्रदाय

ईसे (११४५–१२१५) तथा दोगेन (१२००–१२५३) नाम के दो महापुरुष जापान मे 'जैन' सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं।

इस सम्प्रदाय के अनुयायियो मे अनेक प्रभावशाली नेता और योद्धा हो चुके हैं। यह एक प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक साधना का विशिष्ट पथ है। यह साधना युद्ध-भूमि के सैनिक के लिए भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी शान्ति-सेना के सैनिक के लिए।

जोदो तथा सिनरन

हानेत (११३३–१२१२) द्वारा सस्थापित जोदो सम्प्रदाय और शिनरन (११७३–१२७२) द्वारा सस्थापित शिशु सम्प्रदाय सिद्धान्त की दृष्टि से एक ही है। दोनो मानते है कि मुक्ति अमिताभ बुद्ध की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है।

दोनो मतो में एक अन्तर है। जोदो सम्प्रदाय नमु-अमिदु-बुत्सु (नमो अमिताभाय बुद्धाय) के मन्त्रोच्चारण को पुण्यलाभ का साधन मान उसके उच्चारण पर जोर देता है, किन्तु शिशु सम्प्रदाय अमिताभ-बुद्ध मे अनन्त विश्वास को ही मुक्ति का एक मात्र साधन मानता है। इसमें मन्त्रो-च्चारण का स्थान गौण है।

शिशु सम्प्रदाय की एक विशेषता यह भी है कि वह अपने धर्म के संन्यासियो क लिए अविवाहित रहना कतई आवश्यक नहीं मानता। शिशु सम्प्रदाय के संस्थापक स्वय विवाहित थे। उनकी सन्तान ही उत्त-

रोत्तर परम्परा के अनुसार सम्प्रदाय क आचार्यत्व की भी अधि-कारीणी हुई ।

निचिरेन

महान देशभक्त भिक्षु निचिरेन (१२२२-१२८२) द्वारा सस्थापित निचिरेन सम्प्रदाय का शास्त्रीय आधार है—सद्धर्म-पुण्डरीक । जो दीक्षित हैं उन से सद्धर्म-पुण्डरीक के स्वाध्याय की आशा की जाती है और उसका आग्रह भी किया जाता है । साधरण अनुयायियो के लिए नम्यो-हो-रगे-क्यो का मन्त्रोच्चारण पर्याप्त समझा जाता है । उस मत्र का उच्चा-रण जोर-जोर से टाम टम बजाकर किया जाता है—बहुधा सघबद्ध होकर ।

जापान के प्रधान बौद्ध-निकाय अथवा सम्प्रदाय इस प्रकार हैं:—

होस्सो—६५५ में दोशो द्वारा चीन से लाया गया । इस सम्प्रदाय क दो प्रधान मन्दिर हैं । कोफ्युक्यु जी और यक्यु शीची । दोनो मन्दिर नारा मे हैं ।

जिशू—१२२६ मे इप्पेन द्वारा सस्थापित । इस निकाय का प्रधान मन्दिर कामाकुरा के समीप फ्यु जीसव मे युग्योजी है ।

जोदो—इस बुद्धनिकाय की स्थापना आचार्य होनेन द्वारा हुई है । इसकी छः शाखाएँ हैं । क्योतो का छियोन-इन अधिक सम्पन्न शाखा का प्रधान मन्दिर है ।

केगोन—७४० मे रोबेन द्वारा स्थापित बौद्धनिकाय । नारा में तोदेजी प्रधान मन्दिर है ।

निचिरेन—निचिरेन द्वारा सस्थापित इस बौद्धनिकाय की ६ शाखाएँ हैं । जो सबसे बड़ी और सर्वाधिक प्रभावशाली शाखा है उसने अपना

मूल नाम निचिरेन ही सुरक्षित रखा है। निचिरेन सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है यमनाशी जनपद मे मिनोबु-का क्योनजी।

भारत मे कलकत्ता अथवा राजगृह आदि स्थानो मे जो जापानी बौद्ध बिहार बने है वे इसी सम्प्रदाय के भिक्षुओ के प्रयत्न के फल है। युद्ध के दिनो मे अँग्रेजी सरकार ने मरियामाजी आदि को जापान वापिस लौट जाने पर मजबूर किया था। श्री मरियामाजी फिर भारत चले आए हैं।

रित्सु—७५४ मे एक चीनी भिक्षु द्वारा यह सम्प्रदाय जापान मे लाया गया। भिक्षु का नाम था गन् जिन्। नारा का तोशोदेजी इस सम्प्रदाय का प्रधान मन्दिर है।

शिंगोन—कोबो-देशी द्वारा सस्थापित। इसकी दो प्रधान शाखाएँ हैं—(१) कोगी, (३) शिन-जी। ये दोनो शाखाएँ आगे चलकर नौ शाखाओं में बँटी हैं। इस बौद्ध निकाय के अधिक प्रसिद्ध मन्दिर हैं (१) कोय पर्वत पर कोब-गो-च्यु-जी, तोजी, दै-गोजी आदि सभी क्योतो मे, नारा के पास हसे पर हसेदेरा।

शिंशू (जोदो शिंशू)—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार शिन-रन द्वारा सस्थापित। इसकी दस छोटी छोटी शाखाएँ हैं। हिगाशी-होन गजी और निशी-होगजी—दोनो क्योतो मे हैं और दोनो अन्य शाखाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली।

होम्प होन-गाजी

बौद्ध-सम्प्रदायों की आन्तरिक व्यवस्था समझने के लिए होम्प होन्-गाजी शाखा के आन्तरिक सगठन के बारे मे कुछ जानकारी उपयोगी होगी।

इस शाखा का लार्ड एबट (महन्त) शिन्-रन् की रक्त-परम्परा मे ही उसका क्रमागत उत्तराधिकारी होता है। महन्त के नीचे एक निर्देशक (सोचो) और तीन उपनिर्देशक (सोयो) होते हैं। ये ही सारी व्यवस्था के लिए जिम्मेदार हैं। मुख्य-निर्देशक महन्त द्वारा निर्णीत दो या तीन आदमियो मे से कोई एक आदमी होता है, जिसे धर्म-सभा चुनती है, और जिसकी बाद मे महन्त द्वारा औपचारिक नियुक्ति हो जाती है। दूसरे उपनिर्देशक की सिफारिश पर महन्त द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

प्रधान महन्त द्वारा दीक्षित व्यक्तियो को ही भिक्षु की दीक्षा दी जाती है। पहले केवल पुरुषों को ही यह प्राप्त हो सकती है। दीक्षा हर महीने की १५ तारीख को स्वय प्रधान महन्त की अध्यक्षता मे दी जाती है।

इस समय इस शाखा द्वारा दीक्षित भिक्षु-पुजारियो की सख्या २२,१४७ है, जिनमे २००५ देवियाँ भी हैं।

इस शाखा के प्रधान कार्य हैं—

(१) देश और देश के बाहर धर्म-प्रचार कार्य।

(२) सामाजिक सेवा का कार्य।

(३) शिक्षा-प्रसार का कार्य।

इस सम्प्रदाय द्वारा सचालित ११ शिक्षा-सस्थाओ मे एक रयुकोक्यु युनिवर्सिटी है। इसकी स्थापना १६३९ मे हुई थी। इसमे बुद्ध धर्म, शिन-सम्प्रदाय सिद्धान्त, धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन, इतिहास, दर्शन, नीतिशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, जापानी साहित्य, यूरोपीय साहित्य आदि अनेक विषयो के शिक्षण की व्यवस्था है। १२३० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं।

(४) प्रकाशन का कार्य।

सम्प्रदाय की रिपोर्ट (शू हो)	२२०० प्रतियाँ
हाग-वा जी समाचार	१५,००० प्रतियाँ
बौद्ध पत्रिका	४५,००० प्रतियाँ
बौद्ध-बालक-समाचार	३२०० प्रतियाँ

ये सभी प्रकाशन मासिक हैं और शाखा के सभी मन्दिरो तथा धर्म-रत केन्द्रो को भेजे जाते हैं।

इस शाखा की एक वर्ष की कुल आय १०,०७,३२,६०,००० येन है और इतना ही खर्च भी है। इससे इस शाखा के कार्य का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

विश्व बौद्ध सम्मेलन के तोक्यो और क्योतो के दोनो अधिवेशन होग-वा-जी शाखा के ही मन्दिरो मे हुए, जिनकी विशालता का कुछ अनुमान दक्षिण भारत के एकाध मन्दिर को देखकर किया जा सकता है।

तेन्दई—पहले कहा ही जा चुका है कि इस बौद्ध-निकाय के सस्थापक थे दग्यो-देशी। इसकी तीन शाखाएँ हैं। तीनो शाखाओ के मुख्य मन्दिर क्योतो के ही पास हैं (१) एन-व-क्यू-जी, (२) सैवयो-जी, (३) ओजो-जी। पहले दोनो सकमातो मे है और तीसरा ओत्सु मे।

यूजूनेम्बुत्सु—१११७ मे रयोनिन द्वारा स्थापित। उसका मुख्य मन्दिर ओसाका में है। नाम है दे-नेय-व्युत्सु जी।

जैन—इसकी तीन मुख्य शाखाएँ हैं : (१) रिन-जे, (२) ओब-कु, (३) सोतो। रिनजे १४ उपशाखाओ मे विभक्त है। सोतो-शाखा के दो

प्रधान मन्दिर हैं। पहला फ्युक्युइ के पास एहिजी और दूसरा योकोहामा मे सोजी-जी।

रिन-जे—शाखा का सब से बड़ा मन्दिर क्योतो का म्योशिनजी है।

हमें अपने जापान-प्रवास के दिनो मे एक रात के लिए एहिजी और कई दिन तक सोजो-जी में रहने का सौभाग्य हुआ। हमे स्वीकार करना पड़ता है कि सफाई और व्यवस्था की दृष्टि से कोई भी भारतीय हिन्दू मन्दिर तो इनकी तुलना कर ही नहीं सकता, पर कोई भी बौद्ध तथा जैन मन्दिर भी नहीं। अपने मन्दिरो मे तो जहॉ जितनी अधिक पवित्रता रहती है वहॉ उतनी ही कम सफाई।

विहारो मे सफाई

इन विहारो मे पहुॅचते ही अपने जूते दरवाजे पर ही छोड़ देने पड़ते है। विहारो की ओर से जो स्लीपर दरवाजे पर रख दिये जाते हैं, उन्हे पहन कर ही विहार के बरामदो मे चल फिर सकते हैं। इन स्लीपरों की गति भी विहारो के भिन्न भिन्न भवनों के द्वारो तक ही है। अन्दर आप या तो नगे पॉव ही जा सकते हैं या मोजा पहन कर भी। सभी कमरो मे फर्श के साथ-साथ चटाइयॉ जुड़ी रहती है और बैठने के लिए रहते हैं प्रायः काले रग के मोटे गद्दीदार आसन।

दिन मे जो कमरे बैठने-उठने का काम देते हैं, भोजनशाला का काम देते हैं, रात में उन्हीं मे शयनासन लगा दिए जाते हैं। एक ही कमरे में इतना सब कुछ होते हुए भी सफाई ऐसी कि आपको कहीं भी कुड़ा-कचरा गिराने मे स्वय डर लगे।

पाखानों तक के फर्शों मे चटाइयाँ जुड़ी हुई और कहीं-कहीं छोटे-छोटे फूल के गमले रखे हुए हैं।

पाखानों की सफाई का सारा काम भिक्षु ही करते हैं, और आश्चर्य यह है कि इसमे कुछ भी विशेषता नहीं मानी जाती।

जापानी भिक्षु

कृपाशरण महास्थविर के शब्दो में जापानी भिक्षु जूता सीने से चण्डी-पाठ तक के काम के लिए हर समय तैयार रहता है। बौद्ध पुजारी के अर्थ में हम अधिकाश जापानी बौद्ध भिक्षुओं के लिए 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग करते हैं, अन्यथा वे उतने सन्यासी नहीं होते जितने गृहस्थ और यदि सन्यासी होते भी है तो बहुत कुछ विहार के घर-बारी सन्यासियो के समान।

उक्त बौद्ध निकायों के मन्दिरो और उनके अनुयायियो की सख्या इस प्रकार है :—

	मन्दिर	अनुयायी
होस्सो-शू	३८	४००
केगोन-शू	४३	५०६००
रित्सु-शू	२१	४६००
तेन्-दे-शू	४१०३	२०७४००
थिन्-गोन्-शू	१०८६५	६६८६००
यूजूनम्-बत्सु-शू	३५७	३५०००
जोदोशू-	८७५८	३६०३७०००

शिनु-शू	२११६१	६८५०७००
जि-शू	४२०	३०८००
रिनू-जे	५८८०	२०२५०००
जेन-शू सोतो	१४४६६	१६६५२००
ओबकु	४६३	४०६००
निचिरेन्-शू	५३११	१००४०००
अन्य	६७२	३१८५००
जोड़	७२६१८	२०४६६६७००

ईसाईयत

१५४६ से १६३८ तक लगभग १०० वर्ष तक रोमन कैथोलिक पादरी जापान मे ईसाइयत का प्रचार करते रहे। १६३८ से जापान सरकार ने उन्हे देश से निकाल दिया।

दो सौ वर्ष तक जापान मे ईसाई धर्म के प्रचार के लिए कोई गु जाइश नही रही।

१८५३ मे जब अमरीका की ओर से कामोडोर पेरी ने जापान के साथ व्यापारिक सन्धि करने की मॉग की और उसे यह सुविधा प्राप्त हो गई, तभी से फिर ईसाई पादरियो के लिए जापान का द्वार खुला।

१८७३ तक ईसाई पादरियो को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा, क्योकि जापान सरकार जापान मे ईसाइयत का प्रचार नही चाहती थी। १८७३ मे ईसाइयो पर से यह प्रतिबन्ध हटा। तब से उन्हे

खुले तौर पर स्कूल खोलन, धर्म-पुस्तकें छापने और ईसाइयतका प्रचार करने की छूट मिल गई।

इस समय जापान मे ईसाइयत को खुल खेलने का पूरा अवसर है। ईसाइयत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के गिरजो की सख्या १५२१ और अनुयायियो की सख्या ३१८००० कही जाती है।

जापान की आर्थिक स्थिति

यहाँ से मेरे जापान जाने की व्यवस्था तो भारतीय मित्रों ने कर दी थी—प्रश्न था लौटने का। मेरी इच्छा थी कि मैं हवाई जहाज से कलकत्ता न जाकर केवल बगकाक तक ही यात्रा करूँ। वहाँ से मैं कम्बोडिया, लाओ तथा वियतनाम हो आना चाहता था। रेवरैण्ड रिरिनाकायामा ने थाइलैंड तक के लिए सत्तर हजार येन की व्यवस्था की। हवाई-कम्पनियोंवाले येन के बजाय अमरीकी डालर माँगते थे। ब्लैक-मार्केट का रास्ता खुला था। किन्तु खुले रास्ते से कहीं भी डालर प्राप्य न थे। जापान के अर्थ-मन्त्रालय का दरवाजा खटखटाया गया। उनका भी कहना था कि हमारे पास डालरों की बहुत कमी है। फलतः हवाई जहाज का विचार छोड देना पड़ा और छोड़ देने पडे रेवरेण्ड रिरिनाकायामा के जापानी येन।

बाद में मैंने पानी के जहाज से आने का उपक्रम किया। उस समय भी जापानी येन मेरे किसी काम के सिद्ध न हो सके।

ऐसा लगा कि जिसके पास केवल जापानी येन हो, वह आसानी से देश के बाहर ही नहीं जा सकता।

जापान के तट पर पैर रखते ही जापानी कस्टम-विभाग आपसे पूछ ही नही लेगा, किन्तु अपनी ओर से एक पुस्तिका भी देगा, जिसमे आपको अपने पास का सारा विदेशी पैसा (यात्रियो के चेक आदि) दर्ज करा देना होगा।

जापान मे जो भी खरीदना हो, कुछ भी लेन-देन करना हो, जापानी येन के द्वारा ही होता है। १ येन, ५ येन, १० येन, ५० येन, १०० येन, ५०० येन तथा १००० येन के सिक्के आम हैं। एक येन से कम के सिक्के भी हैं, किन्तु व्यवहार मे उनका कुछ भी मूल्य नहीं है।

इस समय एक अमरीकी डालर ३५८४५ येन का, एक स्टर्लिंग पौण्ड ६६८४० येन का और एक रुपया साठ से सत्तर येन के बीच का होगा।

जापान की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। इसके मुख्य कारण हैं—

(१) भूमि तथा प्राकृतिक सम्पत्ति की कमी। जापान मुख्यतया एक पर्वतीय प्रदेश है। सारी भूमि के १५.५ प्रतिशत से अधिक मे खेती हो ही नही सकती। अधिकाश हिस्सा जगलो तथा घास के मैदानो ने घेर रखा है। भारत का जितना हिस्सा खेती के लायक है, उसकी तुलना मे जापानका आधेसे भी कम हिस्सा खेती के योग्य है। जिन देशो मे कच्चे माल का एक प्रकार से एकदम अभाव है, जापान उनमें से एक है। उसे जितने कच्चे लोहे की आवश्यकता रहती है, उसका $\frac{1}{3}$ हिस्सा

बाहर से मँगाना पड़ता है। जितने पैट्रोलियम की आवश्यकता होती है, उसका ९/१० बाहर से मँगाना पड़ता है। जितने ताँबे की आवश्यकता होती है उसका १/२ बाहर से मँगाया जाता है। और जितने नमक की आवश्यकता होती है, उसका दो-तिहाई हिस्सा बाहर से ही मँगाना पड़ता है। रबर, रूई और ऊन तो लगभग सारी की सारी बाहर से ही लेनी पड़ती है।

खाद्य-सामग्री तक का २० प्रतिशत बाहर से मँगवाया जाता है।

(२) जनसख्या की अधिकता—जापान में आदमियों की कमी नहीं है। इस समय जापान की जनसख्या लगभग आठ करोड़ है। ससार की जातियो मे जो जातियाँ वृद्धि करने मे अग्रसर हैं, जापान उनमे से एक है। द्वितीय महायुद्ध के समय-मृत्यु क्रम मे वृद्धि हो जाने के कारण उत्पत्ति-क्रम कुछ कम हो गया था। किन्तु १९४६ में ही वह अपने पूर्व-स्थान पर आ गया। लगता है कि १९७० होते-होते जापान की जन-सख्या दस करोड़ हो जायगी।

(३) खेती की दरिद्रता—जापान की आबादी का लगभग आधा हिस्सा खेती-बारी मे लगा रहता है। कला-कौशल की अपेक्षा खेती-बारी मे कम आमदनी होती है। सब मिलाकर खेती-बारी-प्रधान जिले शहरी-आबादीवाले जिलो की अपेक्षा दरिद्र ही हैं।

(४) आधुनिक उद्योग-धन्धे—छोटे-छोटे कारखाने अथवा ऐसी दूकाने जिनमे चार-पाँच आदमी काम करते हैं, जापान के उद्योग की विशेषता है। देश भर के कारखानो में से ८० प्रतिशत कारखाने ऐसे ही हैं। इनमे पुराने तरीके के शारीरिक श्रम की ही प्रधानता है।

(५) स्वदेशी बाजार की कमी—जापानियों का जीवन-स्तर अधिक ऊँचा न होने से जापान में जो चीजें बनती हैं, उनका जापान में ही बिकना बहुत कठिन है। जापान के ग्रामीण जापान में बनी चीजों को नहीं खरीद सकते।

(६) विदेशी बाजारों पर अत्यधिक निर्भरता—जापान की परिस्थिति ऐसी है कि वह अपना तैयार किया हुआ माल बाहर बेचने के लिए मजबूर है, और मजबूर है बाहर से ही कच्चा माल मँगाने के लिए। इसका मतलब इतना ही है कि विदेशी व्यापार ही उसकी सारी अर्थ-नीति का आधार है। बाहर से जितना कच्चा माल मँगाया जाता है और उससे जो चीजें तैयार होती हैं, उनकी स्वदेश से अधिक विदेशों में ही खपत है। तैयार माल बाहर भेजने से जो पैसा मिलता है, उसे कच्चा माल खरीदकर उत्पादन बढाने के लिए सुरक्षित रखा जाता है। पिछले अस्सी वर्षों तक जापान की सारी अर्थ-नीति का यही मूलाधार रहा है। लगता है कि भविष्य में भी जापान को इसी अर्थ-नीति का आश्रय लेना पडेगा।

युद्धोत्तर जापान को अपना विदेशी-व्यापार बढाने की जैसी जरूरत आ पडी है, वैसी शायद पहले कभी नहीं थी।

खेती-बारी

जापान में सबसे अधिक खेती धान की होती है। धान के बाद जौ और गेहूँ का स्थान है। जितना धान होता है उसका ४० प्रतिशत जौ और गेहूँ की खेती होती है। कपास की खेती उल्लेख योग्य नहीं है।

जापान में खाने-पीने की चीजे ही अधिकतर उत्पन्न की जाती हैं। इसका सीधा कारण है जापान की दिन-दूनी रात-चौगुनी बढती हुई आबादी के मुँह मे कौर डालने की मजबूरी। धान को सापेक्ष दृष्टि से अधिक खाद की आवश्यकता नहीं होती और उसकी खेती प्रतिवर्ष लगातार की जा सकती हैं। परिश्रम जरूर करना पड़ता है, लेकिन प्रति एकड पैदावार भी पर्याप्त होती है।

अनेक दूसरे देशों की तुलना मे जापान की भूमि कम उर्वर है। इटली, स्पेन आदि का किसान जापानी किसान की अपेक्षा उतने ही क्षेत्र में कहीं अधिक पैदा कर लेता है।

हरएक किसान के पास औसतन जो जमीन है, वह बहुत ही कम है। युद्धोत्तर जापान में जो जमीदारी प्रथा समाप्त की गई, उससे भी कुछ अन्तर नही पड़ा। इसके विपरीत शहरी लोगों के खेतो पर वापिस जाने की प्रवृत्ति के कारण एक-एक किसान-परिवार की जमीन की औसत-मिल्कियत और भी कम हो गई। विदेशो से वापिस लौटे हुए सैनिको ने इस कमी को और भी तीव्र कर दिया।

जापान की खेती-बारी मे मशीनो का बहुत उपयोग नहीं है। धान कूटने की मशीन की ही एकमात्र बहुलता है। मशीन के अधिक उपयोग मे न आने के और भी कारण होंगे, किन्तु सबसे बड़ा कारण तो जन सख्या की अधिकता है।

देश की खेती-बारी की समस्या समस्त देश के औद्योगीकरण के साथ ही सबधित है। धान और दूसरे अन्नो की पैदावार भी ऋतु के अच्छा या बुरा होने पर निर्भर करती है। इस समय चावल, जौ और गेहूं

की उपज लगभग एक करोड बीस लाख टन है। इतना अन्न जापान की जनता के लिए पर्याप्त नहीं होता। इस कमी की पूर्ति के लिए छब्बीस लाख टन अन्न बाहर से मँगवाना पडता है।

१६३३ में जापान ने सबसे अधिक धान उत्पन्न किया—एक करोड टन। १६४५ मे जिस समय जापान को अमरीका के एटम-बम के सामने घुटने टेक देने पडे, उसकी धान की उपज रह गई थी कुल उनसठ लाख टन।

उद्योग-धन्धे

१८६८ मे मेजी शासनाधिकार के समय जापान मे पूँजीवाद ने प्रवेश किया। अन्य देशो की भाँति जापान मे भी पहले खपत की हलकी चीजें बननी आरम्भ हुई। १८८० के आसपास औद्योगिक क्रान्ति हुई, जिसका दौर लगभग बीस वर्षों तक रहा।

जापान एक सामरिक जाति बनने के लिए मजबूर था। मेजी-शासन के आरम्भिक वर्षों मे ही सरकार ने भारी उद्योग-धधो के विकास की ओर ध्यान दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ के पूर्व छः वर्षो में जापान ने भारी उद्योगों के विकास मे अद्भुत कौशल का परिचय दिया।

१६३५ मे भारी उद्योग-धधों की उत्पादन-शक्ति ४८.७ प्रतिशत थी और हल्के उद्योग-धन्धों की ५१.३ प्रतिशत १६४१ मे भारी उद्योग-धंधों का उत्पादन ७६ प्रतिशत हो गया और हल्के उद्योग-धधो का केवल ३४ प्रतिशत रह गया।

भारी उद्योग-धधों की यह असाधारण प्रगति पूँजीवाद की सामर्थ्य की द्योतक है। मोटरकारो, जहाजों तथा वायुयानो के निर्माण मे जितने

भी प्रगति हुई वह सारी की सारी राज्य-सरक्षण का परिणाम थी। इन उद्योगपतियो के सबसे बडे ग्राहक थे—सेना एवं नौसेना। इस समय वे ग्राहक नहीं रह गए हैं। इसलिए इन उद्योगो की एक प्रकार से दुर्दशा ही है।

विद्युत्-शक्ति

जापान मे अधिकाश बिजली पानी से ही पैदा की जाती है। युद्ध के दिनो मे ३४ अरब किलोवाट बिजली एक वर्ष में पैदा होती थी। युद्ध के बाद इसकी मात्रा घटकर एकदम २० अरब किलोवाट रह गई। १९४९ मे यह पुनः युद्धकालीन सीमा को लाँघकर ३६ अरब किलोवाट तक पहुँच गई। यह अभी वृद्धि पर है। किन्तु युद्ध के बाद बिजली की माँग इतनी अधिक बढ गई है कि उसकी पूर्ति लगभग असम्भव है।

जापान की बिजली का सारा उद्योग नौ कम्पनियो के हाथ मे है, जिन्होने अपना-अपना क्षेत्र बाँट रखा है।

बिजली के उद्योग मे उन्नति करने के लिए जलीय विद्युत् पैदा करने के साधनो को बडे पैमाने पर बढाने की आवश्यकता है। यह कार्य विदेशी पूँजी की अपेक्षा रखता है। स्वदेशी साधन इसके लिए अपर्याप्त है।

जहाजो का निर्माण

युद्ध के दिनों में जहाजो का निर्माण-कार्य विशेष प्रगति पर रहा। १९४४ मे जापान क पास ६१५ जहाज थे।

१९४९ में जापान में जहाज बनाने के उद्योग मे पुनः प्राण-सचार हुआ। आज जापान मे ९० से अधिक ऐसे जहाज बनाने

के अड्डे हैं, जहाँ से वर्ष मे आठ लाख टन के जहाज वनकर तैयार हो जाते हैं। ग्यारह बड़ी बड़ी ऐसी कम्पनियाँ हैं, जिनका मूलधन ६ अरब येन है।

जापान की आर्थिक स्वतन्त्रता उसकी जहाजरानी से सबधित है, और जहाजरानी का सम्बन्ध है जहाज-निर्माण से। इसलिए जापान को यह आवश्यक हो गया है कि वह पूरे जोरशोर से जहाज-निर्माण-कार्य मे लग जाय।

मोटर-कार

जापान का मोटर बनाने का उद्योग बीस वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। १६४१ मे जापान ने सवसे अधिक मोटरो का निर्माण किया अर्थात् चौवालीस हजार का। युद्ध के दिनो मे सामान न मिलने से निर्माण-कार्य मे कमी आ गई थी। इसमे कुछ सदेह नही कि मोटर बनाने का उद्योग इधर फिर कुछ सँभला गया है, किन्तु अभी वह अपनी १६४१ की अवस्था को नही पहुँच सका है।

शिशु-कारो न इधर बहुत प्रगति की है। ये हल्की और सस्ती भी होती हैं। जापान-जैसे देश मे विशेष उपयोगी भी सिद्ध हुई हैं।

डिजेल-इंजिन की गाडियाँ भी तेजी से वन रही हैं। वे जापान मे बहुत उपयोगी साबित हुई हैं, क्योकि वहाँ पेट्रोल की अधिकता नहीं है।

कपडे का उद्योग

अनेक वर्षो तक जापान को अपने कपडे के उद्योग का अभिमान रहा है। युद्ध से पूर्व जापान कपडे के निर्यात में अन्य सभी देशो से बाजी मारे हुए था। किन्तु, १६३७ से कपड़े के उद्योग में ह्रास होना आरम्भ

हुआ। दूसरा विश्व-युद्ध आया और उसने जापान के कपडे के व्यापार को एक प्रकार से तहस-नहस ही कर दिया। युद्ध के दिनो मे बहुत-सी मशीनें कच्चा लोहा बन गई और शेष बमबाजी द्वारा नष्ट कर दी गई अथवा जला दी गई।

१९४१ मे जापान मे एक करोड बत्तीस लाख तकुवे थे। युद्ध के बाद केवल छब्बीस लाख नब्बे हजार तकुवे रह गए।

१९४६ में अमरीकी रूई के बल पर कपडे के उद्योग को फिर नए सिरे से खड़ा करने का प्रयत्न किया गया। १९४५ मे पॉच करोड पचास लाख वर्गगज कपडे का निर्यात हुआ और १९५० मे यह संख्या बढकर एक अरब बावन करोड पचास लाख वर्गगज हो गई।

युद्ध के बाद दो वर्ष तक उत्पादन सामर्थ्य मे बहुत कमी रही। युद्ध से पूर्व दस-ग्यारह आदमी केवल एक बेल सूत का धागा निकाला करते थे। १९४६ मे उसी काम के लिए २६ आदमी आवश्यक हो गए। अब फिर उनकी संख्या घटकर १० रह गई। यह सब आदमियो की कार्य-शक्ति और मशीनो की योग्यता के विकास का परिणाम है।

विदेशी व्यापार

प्रथम विश्वयुद्ध तक जापान के विदेशी व्यापार ने अद्भुत उन्नति की। लेकिन १९३७ में चीन के साथ जो झमेला हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप यूरोप तथा अमरीका से होनेवाला जापानी व्यापार कुछ सीमित हो गया।

१९३०–१९३५ के बीच मे जापान का आयात एक अरब

चौहत्तर करोड पचास लाख डालर और निर्यात एक अरब एकसठ करोड़ डालर था। अमरीकी सहायता के बल पर जापान फिर अपनी युद्ध-पूर्व की स्थिति की ओर अग्रसर हो रहा है।

१६३०-३५ के वर्षों के बीच व्यापार का मापदण्ड यदि हम १०० स्वीकार कर लें, तो १६४५ और १६४६ के बीच के वर्ष का निर्यात ८८ और आयात २४ २ मानना होगा। १६४७-४८ मे यह निर्यात ११ ७ और १६.२ हो गया तथा आयात ३३ ८ और ३६ ७ हो गया।

आयात-व्यापार मे जो इतनी अधिक वृद्धि दिखाई देती है, उसका मूल कारण अमरीकी सहायता के आधार पर औद्योगिक कच्चे माल का आयात ही है।

१६४६ मे जापान ने नब्बे करोड डालर का माल मँगवाया और पचास करोड़ डालर का माल बाहर भेजा। १६५० मे तिरानबे करोड डालर का माल मँगवाया और बयासी करोड का माल आहर भेजा। १६५१ मे एक अरब चालीस करोड़ डालर का माल मँगवाया और एक खरब चालीस अरब डालर का माल बाहर भेजा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के ठीक बाद जापान का सारा व्यापार पूरी कड़ाई के साथ मित्र-शक्तियो की ही अधीनता मे होता था—एक सरकार का दूसरी सरकार के साथ। शनैः-शनैः रोकथाम कम की जाने लगी। १६५० आते-आते लगभग सारा खानगी व्यापार पूर्ववत् हो गया।

अर्थ-व्यवस्था

जापान मे पूँजीवाद का विकास कुछ अपने ही ढंग पर हुआ है। इसलिए वहाँ के आर्थिक सस्थानो की कुछ विशेषताएँ ऐसी है जो उन

देशों के आर्थिक संस्थानो मे नहीं पाई जातीं जहाँ पूँजीवाद का विकास सामान्य गतिविधि से हुआ है।

१ बैंक आफ जापान—आर्थिक संस्थाओं के सामान्य क्षेत्र से बाहर रहकर यह बैंक जापानी अर्थ-व्यवस्था को अत्यधिक मात्रा मे प्रभावित करता है। यही जापान का केन्द्रीय बैंक है। १८८२ मे सरकार द्वारा इसकी स्थापना हुई। इस बैंक को नोट निकालने का अधिकार प्राप्त है और यह राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था को चालू रखने के लिए सरकार तथा नगर-बैंकों के साथ लेन-देन करता है। 'बैंक आफ जापान' देश के अन्य समस्त बैंकों तथा सरकार का भी बैंक है। यही राष्ट्र की अर्थ-नीति की भी चिन्ता करता है। यह कोई सार्वजनिक संस्था नहीं है, किन्तु एक प्राइवेट कार्पोरेशन है—निजी संस्थान। इसका मूलधन दस करोड़ येन है, जिसका ८० प्रतिशत सरकारी है।

बैंक का प्रधान कार्यालय तोक्यो मे है। इसकी २६ शाखाएँ हैं। देश के दूसरे हिस्सो मे इसके २२ कार्यालय हैं।

१६३५ में दो अरब अठारह करोड चालीस लाख येन के सिक्के चालू किए गए। १६४५ मे इनकी संख्या छप्पन अरब पैंसठ करोड अस्सी लाख येन तक बढ गई। १६४६ मे चौरानबे अरब पचासी करोड तीस लाख येन हो गई। १६४७ मे दो अरब बीस करोड़ सत्तासी लाख येन हो गई और १६४८ मे यह संख्या तीन खरब छप्पन अरब चौहत्तर करोड़ साठ लाख येन तक पहुँच गई। तब से न विशेष वृद्धि हुई है और न विशेष कमी।

व्यापारी बैंक

१९३० में देश भर में ८९० बैंक थे। लेकिन सरकार के सुझाव पर क्रमशः एक को दूसरे में मिला दिया गया और उनकी संख्या घटकर कुल ७० के आसपास रह गई। १९३० में इन बैंकों का मूल-धन एक अरब सतहत्तर करोड़ साठ लाख येन था और १९४७ में था एक अरब बयालीस करोड पचास लाख येन। किन्तु १९४८ में यह संख्या बढ़कर चौदह अरब बहत्तर करोड़ नब्बे लाख येन हो गई। १९५० होते-होते यह संख्या बीस अरब येन तक पहुँच गई।

इस समय जापान में बाइस बैंक ऐसे है जो विदेशी-सिक्कों का लेन-देन कर सकते है।

दूसरे आर्थिक संस्थान

जापान में इन्श्योरेंस कम्पनियों की संख्या है ३७, जिनमें से २० जीवन का बीमा करनेवाली है और शेष जीवन का बीमा नहीं करती।

खेती-बारी तथा मत्स्य व्यवसाय को उधार देनेवाली संस्थाओं की संख्या ३२,६०० है, जिनमें से १६,५०० संस्थाएँ अपने सदस्यों का पैसा भी जमा करती हैं और उन्हें उधार भी देती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के छोटे-बड़े बैंक है।

जापान में विदेशी बैंकों की निम्न शाखाएँ हैः—

बैंक आफ अमरीका, बैंक आफ चीन, बैंक आफ इंडिया, बैंक आफ कोरिया, बैंक आफ इण्डो-चाईना, चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया।

———

[१०]

जापान का शिक्षण-संगठन

छठी शती मे चीनी अक्षर-माला अथवा शब्द-माला के प्रवेश के साथ ही जापान मे शिक्षा-सबधी समस्याएँ खड़ी हुई। शुरू-शुरू मे राजकुमार तथा राजदरबार के ही कुछ लोग शिक्षित हो सकते थे। आठवी शती तक जाकर जनसाधारण की शिक्षा-पद्धति का विकास हो सका। ७ वी ईसवी मे ताइहो-स्मृति ने शिक्षा-पद्धति के सिद्धातो का विस्तार किया। यह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की स्थापना से दो सौ वर्ग पहले की बात है।

ताइहो-स्मृति मे चीन की शिक्षा-पद्धति के अनुसार केन्द्रीय-महाविद्यालय (देगकू) और प्रातीय विद्यालय (कोकुगकू) की व्यवस्था थी। देश के किसी एक केन्द्रीय स्थान मे महाविद्यालय और प्रत्येक प्रात मे एक-एक स्कूल था। यह कहना कठिन है कि शिक्षा की विस्तृत योजना के अनुसार वास्तविक कार्य किस सीमा तक हुआ।

आगे चलकर बड़े-बडे सामन्त-परिवारो ने कुछ विद्यालय स्थापित किए, जिन्हे हम उनके निजी विद्यालय कह सकते हैं। बौद्ध भिक्षुओ ने सर्वसाधारण के लिए विद्यालय खोले; किन्तु ऐसे विद्यालयो मे सामाजिक दृष्टि से 'उच्च' लोग ही पढ सकते थे और पढाई भी होती थी केवल प्राचीन चीनी-ग्रथों की। ये सस्थाएँ अल्प-जीवी हुई और गड़बडी-प्रधान मध्य-युग मे तोइहो-स्मृति के अनुसार कार्य नहीं हो सका।

अभी तक बौद्ध-भिक्षु कन्फ्युशियस-वाद की ही शिक्षा देते थे। ७ वीं शती मे कन्फ्युशियस-वाद नए सिरे से अपना स्वतत्र आधार लेकर खड़ा हो गया। इस समय जापान मे चीनी-वाङ्मय के अनेक आचार्य हुए।

एदो (तोक्यो) का विद्या-मन्दिर और अनेक स्थानीय विद्यालय तत्का-लीन शिक्षा-सबधी धारणाओ के मूर्तिमान् रूप थे। उस समय एक प्रकार से केवल प्राचीन चीनी वाङ्मय की ही शिक्षा दी जाती थी—विशेप रूप से कन्फ्युशियस-वाद की। इसका उद्देश्य था योग्य शासक बनाने की नीयत से व्यक्तिगत गुणो का विकास। मध्य-युग मे समुराई-वर्ग (सामरिक) के अस्तित्व मे आने पर उसके लिए जापानी-शौर्य के एक नैतिक-विधान का निर्माण हुआ। समुराई-वर्ग इसका अक्षरश. पालन करने का प्रयत्न करता था। शासन के लिए आदमी तैयार करना ही इस शिक्षा-पद्धति का मुख्य उद्देश्य था। सम्भवतः ऊँचे वर्गवाले ही इससे लाभ उठा सकते थे। सैनिक तथा सांस्कृतिक शिक्षण देनेवाली सस्थाओ की सख्या २०० तक पहुँच गई थी।

निम्नवर्ग के शिक्षण का काम बौद्ध भिक्षुओ की विशेषता थी।

लेकिन बहुधा चीनी वाड्मय के आचार्य और अवकाश-प्राप्त समुराई भी अपने-अपने विद्यालय अथवा तेरकोय खोल लेते थे। तेरकोय का शब्दार्थ है मन्दिर-विद्यालय। इन विद्यालयो मे प्रधान-रूप से लिखना-पढना तथा गणित ही सिखाया जाता था। इन स्कूलो का सारा भार प्रायः अध्यापको को ही वहन करना पड़ता था; क्योकि यह कार्य सेवा-भाव से किया जाता था। बदले मे उन्हे आदर मिलता था, कृतज्ञता मिलती थी। इस शिक्षा-पद्धति मे शिक्षार्थियों के चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया जाता था। इस बात का उल्लेख है कि तोकुगवा-युग के अन्त मे देश मे १५,००० तेरकोय (मन्दिर-विद्यालय) थे। इन्हीं मन्दिर-विद्यालयों की सहायता से अधिकाश किसान, शिल्पी और व्यापारी अपनी आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करते थे।

१८७२ से जापान मे आधुनिक शिक्षा-पद्धति प्रचलित हुई। कन्फ्युशियस-वाद की अच्छी-अच्छी बातो को बनाए रखकर शिक्षण-क्रम को फ्रास, इग्लैंड और सयुक्त राज्य अमरीका के ढग पर सगठित किया गया। इस शिक्षण-योजना के अनुसार देश आठ भागों मे विभक्त किया गया। प्रत्येक भाग मे एक-एक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इन आठ-विश्वविद्यालय-विभागों मे से प्रत्येक विभाग के ३२ उपविभाग थे। प्रत्येक उप-विभाग मे एक-एक था मिड्ल स्कूल। इसी प्रकार प्रत्येक मिड्ल स्कूल-विभाग में २१० प्रारभिक-स्कूल का होना अनिवार्य था। योजना बड़ी व्यवस्थित थी। सामतशाही की समाप्ति के एक ही वर्ष बाद इस योजना के अनुसार कार्यारम्भ हुआ। इन आरम्भिक स्कूलो मे सभी वर्गों के बच्चो (लड़कों तथा लड़कियो) का जाना अनिवार्य था।

राजकीय घोषणा का एक वाक्य है—"अब इसके बाद से शिक्षा इस प्रकार प्रसारित की जायगी, कि देश मे एक भी अनपढ परिवार नही रहेगा और देश के किसी एक भी परिवार का कोई एक भी सदस्य अनपढ नहीं रहेगा।" आगे चलकर सरकार ने ससार की सामान्य प्रगति की ओर ध्यान देते हुए शिक्षा-पद्धति मे अनेक सुधार किए। अब जापान की शिक्षण-पद्धति जर्मन-शिक्षण पद्धति के ढग पर थी।

मेजी के पुनः अधिकारारूढ होने (१८६८) से पहले जापान के शिक्षणक्रम मे अनेक परिवर्तन हुए। अभी तक यह बौद्ध और कन्फ्युशियस विचारधाराओ से प्रभावित था। लेकिन जापानी लोग शनैः-शनै विदेशी विचारों को आत्मसात् कर अपनी निजी सस्कृति के विकास करने मे समर्थ हुए। १८६८ के बाद लोग विदेशी सभ्यता को ग्रहण करने के लिए इतने उत्सुक हुए कि शिक्षण-शास्त्रियो मे भी एक से अधिक विचार-धाराओ का प्रादुर्भाव हो गया।

१९१२–१९२५ तक जापान का झुकाव व्यक्ति के प्रति उदार होने का था। इसलिए शिक्षा मे भी स्वाध्याय और व्यक्तिगत गुणो के विकास पर जोर दिया जाता था। लेकिन, आगे चलकर शनैः-शनैः राष्ट्रीयता-वाद और सैनिकवाद ने जोर पकडा। हो सकता है कि विश्व का द्वितीय युद्ध इसी की पराकाष्ठा हो।

युद्ध-पूर्व जापान के शिक्षण-क्रम के अनुसार प्राइमरी-स्कूल मे छः वर्ष, मिड्ल-स्कूल मे तीन वर्ष, हाई-स्कूल मे तीन वर्ष और कालेज मे भी तीन वर्ष लगते थे। शिक्षण-सस्थाओ तथा अन्य विशेष सस्थाओं मे जीवन के साधनों के रूप मे खेती-बारी, इजीनियरिंग, व्यापार, डाक्टरी

तथा अध्यापन-क्रम की शिक्षा दी जाती थी। सह-शिक्षा प्राइमरी स्कूलो तक ही सीमित थी।

युद्ध के बाद इस शिक्षण-क्रम मे परिवर्तन कर दिया गया। एक अमरीकन शिक्षण-मिशन के सुझाव पर १६४० मे एक नया शिक्षण-कानून लागू किया गया। इस कानून ने जापान की नई शिक्षा-पद्धति के लिए दो आधार-भूत सिद्धान्तो को स्वीकार किया—

(१) हमे व्यक्ति के विकास पर जोर देना चाहिए और ऐसे नागरिक बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जो 'सत्य तथा शांति' के अन्वेषी हो।

(२) हमे एक ऐसी शिक्षण-पद्धति के निर्माण पर जोर देना चाहिए जिसका उद्देश्य व्यक्ति की आवश्यकताओ तथा अधिकारो की रक्षा करते हुए एक व्यापक सस्कृति का अस्तित्व मे लाना हो।

इस शिक्षण-सुधार-कमिटी के सुझाव के अनुसार युद्धोत्तरकालीन जापान मे निम्न-लिखित शिक्षण-क्रम चालू किया गया है—

दर्जा	वर्ष	
प्राइमरी स्कूल	६	अनिवार्य सह–शिक्षा
लोअर सेकेण्डरी स्कूल	३	अनिवार्य सह–शिक्षा
अपर सेकेण्डरी स्कूल	३	(सह–शिक्षा अनिवार्य नहीं। पूरे अथवा सीमित समय के पाठ्यक्रम)
कालेज	३	(शिक्षा जारी रखने के इच्छुक विद्यार्थियो के लिए ग्रेजुएट स्कूल अथवा खोज-सम्बन्धी सस्थाओ की व्यवस्था है।)

कुछ कालेजो और स्कूलो मे भावी अध्यापको के लिए अध्यापन का पाठ्यक्रम है।

जापान मे प्राइमरी तथा लोअर सेकेंडरी स्कूलो मे फीस नहीं। लगती आगे चलकर जहाँ कही फीस ली जाती है, वहाँ विशेष नहीं। मेरे एक जापानी भिक्षु मित्र ने बताया कि जापानी माता-पिता को बच्चे की फीस से हैरानी नही होती। उन्हे स्वय हैरानी तो इस बात से होती है कि उतने बड़े बच्चे को खिलाना पडता है।

सामान्यतः छः वर्ष की आयु से लेकर बारह वर्ष की आयु तक विद्यार्थी का प्राइमरी शिक्षण समाप्त होता है। इस समय मे शिक्षण-कानून के अनुसार बच्चे के शरीर तथा मन के विकास पर जोर दिया जाता है।

प्राइमरी स्कूल के पाठ्य-क्रम मे जापानी-भाषा, सामाजिक बाते, गणित, विज्ञान, सगीत, ड्राइग, शिल्प, घरेलू धधे तथा जिमनास्टिक आदि सम्मिलित हैं।

युद्ध-पूर्व शिक्षण-पद्धति प्रधान रूप से शिक्षण के व्याख्यानो पर ही निर्भर करती थी। किन्तु नई पद्धति मे विद्यार्थी के अपने अनुभव और स्वाध्याय पर विशेष जोर दिया जाता है। इस पद्धति मे दृश्य और श्रव्य साधनो—फिल्म, रेडियो आदि का भी बहुत उपयोग किया जाता है। विद्यार्थियो के स्वास्थ्य और मानसिक योग्यता के परीक्षण के भी नए और अधिक परिष्कृत उपाय काम मे लाए जाते हे। विद्यालयो मे विद्यार्थियों को भोजन मिलने के क्रम चालू करने पर भी जोर दिया जाता है। इसी तरह और पुस्तकालयो के खोलने तथा उनका उपयोग करने पर भ ज़ोर दिया जाता है।

अपर सेकेण्डरी स्कूलो के विद्यार्थियो मे से ६५.४ प्रतिशत विद्यार्थी कालेज की पढाई के लिए तैयारी करते हैं और ३४.६ प्रतिशत विद्यार्थी किसी-न-किसी जीविका के साधन की शिक्षा ग्रहण करते हैं। किन्तु कालेज की पढाई के लिए तैयारी करनेवालो मे से २५ प्रतिशत ही कालेजों और युनिवर्सिटियों मे जा पाते हैं, शेष कोई-न-कोई नौकरी-चाकरी खोज लेते हैं।

युद्ध से पहले इजीनियरी, व्यापार तथा खेती-बारी की शिक्षा विशेष स्कूलों मे ही दी जाती थी। अब अधिकाश स्कूल इनकी शिक्षा देने लग गए हैं। किन्तु ये पाठ्य-क्रम विद्यार्थियो मे विशेष प्रिय नहीं हुए हैं।

किडर गार्डन स्कूल

अधिकाश किंडर-गार्डन स्कूल प्राइमरी स्कूलो से पृथक् हैं। उनमें शिक्षा अनिवार्य नहीं है।

अन्धो और बहरों के स्कूल

अप्रैल १९४९ से अन्धो तथा बहरोके लिए शिक्षण अनिवार्य करदिया गया है। इस समय प्राइमरी स्कूल के तीसरे दर्जे तक शिक्षा दीजाती है।

१९४७ की राष्ट्रीय गणना के अनुसार छः से पन्द्रह वर्ष की आयु तक के अन्धो की सख्या थी १,९८,५४२ और बहरो की संख्या १,३३,६०५। इन सख्याओ से स्पष्ट है कि अधिकाश अन्धे-बहरे लडके और लड़कियाँ स्कूल नही जा पाते।

कालेज और यूनिवर्सिटियाँ

(जून १९५१)

एक नए स्कूल-शिक्षण कानून के प्रसारित होने क अनुसार युद्ध से

पहले के ऊँची शिक्षा देनेवाले सभी स्कूलों की जॉच करने के बाद उन्हे कालेजो और यूनिवर्सिटियो का दर्जा दे दिया गया है।

कालेज और यूनिवर्सिटियो मे सह-शिक्षा है। १२ वर्ष के—नीचे का अध्ययन समाप्त किए हुए—विदेशी विद्यार्थी प्रवेश पा सकते हैं।

द्वि-वर्षीय पाठ्यक्रमवाले कालेज और स्कूल

(जुलाई १६५१)

इन शिक्षालयो मे पेशा-सम्बन्धी शिक्षा पर जोर दिया जाता है।

एजुकेशन-बोर्ड

नवम्बर १६४८ मे सर्वप्रथम एजुकेशन-बोर्ड की स्थापना हुई। इसके सदस्यो का चुनाव प्रत्येक जनपद की जनता करती है।

पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण, शैक्षणिक बजट, अध्यापक-गण, सामाजिक शिक्षण आदि प्राइमरी तथा सेकेंडरी शिक्षा-सबधी सभी मामलो के लिए यह एजुकेशन बोर्ड उत्तरदायी है।

सामाजिक शिक्षा

जापान के अधिकाश शहरो, नगरो तथा ५७ प्रतिशत गॉवो मे एक-एक नागरिक भवन है। इन नागरिक भवनो मे पुस्तकालय है और समय-समय पर व्याख्यान, वाद-विवाद, प्रदर्शन तथा स्थानीय लोगो के मनोरजन और सास्कृतिक विकास के लिए अनेक तरह की बाते होती रहती है। नवम्बर १५५० में इन नागरिक भवनो की सख्या ५६८० थी।

जापान मे पुस्तकालयो की संख्या है १,५४८, जिनका ब्योरा इस प्रकार है।

	सख्या	३,००० पुस्तको से अधिक
जनपद-पुस्तकालय	६५	५१
म्युनिसिपल पुस्तकालय	१६४	१०१
नगर-पुस्तकालय	३४४	५१
ग्राम पुस्तकालय	८०५	१६
शिल्पियो के पुस्तकालय	४	—
निजी पुस्तकालय	१६४	६१
अन्य	२	—

जुलाई १६५० में एक नया पुस्तकालय-कानून लागू हुआ है। पुराने पुस्तकालयो को सुधारने और नए पुस्तकालयों के निर्माण के प्रयत्न जारी है।

जापान मे अजायब-घरो की सख्या १०६ है, जिनमे से ४२ सार्वजनिक है और ६४ खानगी। ये नाना प्रकार के हैं। जातीय अजायब-घर, विज्ञान-अजायवघर, ओकुर-अजायबघर तथा नेजु अजायबघर (कला-कृतियो के अजायवघर) आदि अनेक एक-से-एक बढकर अजायबघर हैं।

जापान-विज्ञान कौसिल

युद्ध के बाद संगठित की गई यह जापान के ऐसे विज्ञान-पण्डितो की एक महत्त्वपूर्ण सस्था है, जिनका विश्वास है कि किसी जाति के सांस्कृतिक विकास के लिए वैज्ञानिक आधार आवश्यक है। इस सस्था का उद्देश्य है कि वह जापान के पुनर्वास-कार्य मे सहायक होती हुई बाहर के लोगो के साथ सहयोग करके मानवीय कल्याण तथा ज्ञान की उन्नति की दिशा में उपयोगी सिद्ध होने का प्रयत्न करे।

इस सस्था के द्वारा निम्नलिखित कार्य होते हे—

(क) महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर विचार-विमर्श कर उन्हे व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने का प्रयत्न।

(ख) वैज्ञानिक अध्ययन तथा खोज के कार्य मे दूसरे लोगो को सहयोग देना।

(ग) सरकार को महत्त्वपूर्ण बातो मे परामर्श देना।

जापान-विज्ञान कौसिल की सदस्य-सख्या २१० है जो सदस्यो द्वारा चुने जाते है। सदस्यो का चुनाव प्रत्येक तीसरे वर्ष होता है। कौसिल के निम्नलिखित ७ विभाग हैं और इस हिसाव से हर विभाग मे ३० सदस्य हैं—

(१) साहित्य-दर्शन तथा इतिहास, (२) कानून तथा राजनीति; (३) अर्थशास्त्र और व्यापार, (४) भौतिक-विज्ञान; (५) इजीनियरी-विज्ञान; (६) खेतीबारी, (७) औषध, दन्त-विज्ञान तथा औषध-निर्माण।

जापान-राष्ट्रीय विद्वत्परिषद्

असाधारण साहित्यिको मे से जापान-विज्ञान-कौंसिल जापान-राष्ट्रीय विद्वत्परिषद् का चुनाव करती है।

जापान-कला-परिषद्

कला के क्षेत्र मे असाधारण सेवाएँ करनेवालो की यह सस्था है। कला-सम्बन्धी विचार-विमर्श, कला के विकास के लिए प्रयत्न, और कला-संबधी समस्याओ के बारे मे शिक्षण-मन्त्रणालय को परामर्श देना इस सभा के मुख्य कार्य हैं।

परिषद् के तीन विभाग हैं—(१) कला, (२) साहित्य, (३)सगीत,

नाटक और नृत्य। पहले विभाग में कार्यकर्ताओ की सख्या ५०, दूसरे में ३० और तीसरे मे २० है।

परिषद् के सभापति के सुझाव पर शिक्षा-सचिव सदस्यों की नियुक्ति करता है। ये आजीवन-सदस्य होते हैं। कला के क्षेत्र में और उसके विकास के लिए विशिष्ट सेवाएँ करनेवालो को परिषद् की ओर से पारितोषिक दिए जाते हैं।

१९१८ मे जापान सरकार ने विद्वानो की सहायता करने का एक क्रम आरम्भ किया। उस वर्ष शिक्षामत्री ने करीब डेढ लाख येन की सहायता की।

१९२७ से सास्कृतिक विज्ञानो की भी सहायता की जाने लगी है और यह मात्रा प्रतिवर्ष वृद्धि पर रही है। आरम्भ मे यह सहायता राष्ट्रीय बजट का ०.०१४ प्रतिशत थी। १९५० तक यह बढकर राष्ट्रीय बजट का ० ०८ (अर्थात् पचास करोड़ येन) हो गई।

इस सहायता के विशेष प्रतिफल हैं—

(१) भारतीय दर्शन का अध्ययन —डा० यूई

(२) रोमन कानून का अध्ययन —प्रो० हरदा

(३) स्टील-निर्माण का आविष्कार —डा० मिशिमा

(४) गेहूँ की मूल जातियों के विषय मे खोज —डा० किद्दार

१९५० में नोबल-प्राइज प्राप्त डा० युकवा को भी इस सास्कृतिक सहायता का लाभ मिला था।

१९५० मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उद्योग-मत्रणालय ने भी खोज के कार्य मे सहायता देनी आरम्भ की। १९५१ मे यातायात, जन-

कल्याण, खेती-जगल, निर्माण तथा श्रम-मंत्रणालयो की ओर से भी सहायता मिलनी आरम्भ हुई ।

शिक्षा-मत्रणालय तथा इन मत्रणालयो द्वारा दी गई कुल सहायता का जोड़ होता है राष्ट्रीय बजट का ०.१७ प्रतिशत अर्थात् १ अरब दस करोड़ येन ।

जापान की सांस्कृतिक राजधानी क्योतो

युद्ध-काल में जापानियो को विश्वास हो गया कि मित्र-सेनाओ की बम-बाजी से उनकी संस्कृति का प्रतीक 'क्योतो' नगर ध्वस्त हो सकता है। अपने राष्ट्रीय अभिमान को पैरों-तले कुचलकर समस्त जापानी जाति ने हजारों-लाखों हस्ताक्षरो के साथ एक प्रार्थना-पत्र अमरीकी फौजी अधिकारियों के पास भेजा कि वे जापान में और जहाँ चाहे, बम-बाजी करे, किन्तु जापानी कला और संस्कृति के केन्द्र क्योतो की किसी भी प्रकार हानि न होने दे। अमरीकनों ने जापानियो की इस भावना और इच्छा का आदर किया और 'क्योतो' पर एक भी बम नहीं गिराया।

लगभग एक हजार वर्ष तक जो नगर ,जापान की राजधानी रहा है, युद्ध की विभीषिका से किसी प्रकार त्राण पा सका है और आज भी वह जापानी सभ्यता का केन्द्र-स्थल है। यह सभी के लिए आकर्षक नगरी है।

ऐतिहासिक और धार्मिक परम्पराओ के गढ एवं प्राचीन जापान की जग-प्रशसित कलाओ के केन्द्र 'क्योतो' ने, सुन्दर पर्वतो के मध्य मे स्थित होने के कारण, ससार भर के नगरो मे अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। भौतिक प्रगति के विविध रूपो के समाविष्ट होने पर भी इस नगरी की प्राचीनता छिपी नही रहती। आज भी ऐसा लगता है कि इस नगर में ससार से सर्वथा पृथक् जापानी आत्मा निवास कर रही है।

अनेक शताब्दियो तक प्रत्येक नए राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस देश की राजधानी मे भी परिवर्तन होते रहे। ७०६ ईसवी से पूर्व नारा मे किसी स्थायी राजधानी की स्थापना नहीं हो पाई थी। ७८४ तक नारा राजधानी थी। इसके बाद वर्तमान मुकोमची स्टेशन के पास नगोका राजधानी हुई। ७६४ मे नगोका के उत्तर-पूर्व मे उद नामक स्थान पर वर्तमान 'क्योतो' का निर्माण हुआ।

इसका पहला नाम कुछ काव्यात्मक था—ह्यान-क्यो (शाति का नगर)। बाद मे यपियको अथवा केवल क्योतो (राजधानी-नगर) कहलाया। तो-क्यो क देश की राजधानी बन जाने के बाद से क्यो-तो की शान जाती रही। किन्तु आज भी वह एक प्रकार से देश की सास्कृतिक राजधानी है ही। सभी नरेशो के सिहासनारूढ होने का सस्कार आज भी क्योतो मे ही सम्पन्न होता है।

तो-क्यो के देश की राजधानी बन जाने से क्यो-तो की जनसख्या स्वभावतः घटने लगी। १८८६ मे घटते-घटते यह २,७६,२०० तक पहुँच गई। पिछले साठ वर्षो से वह फिर बढ रही है। १६५० की
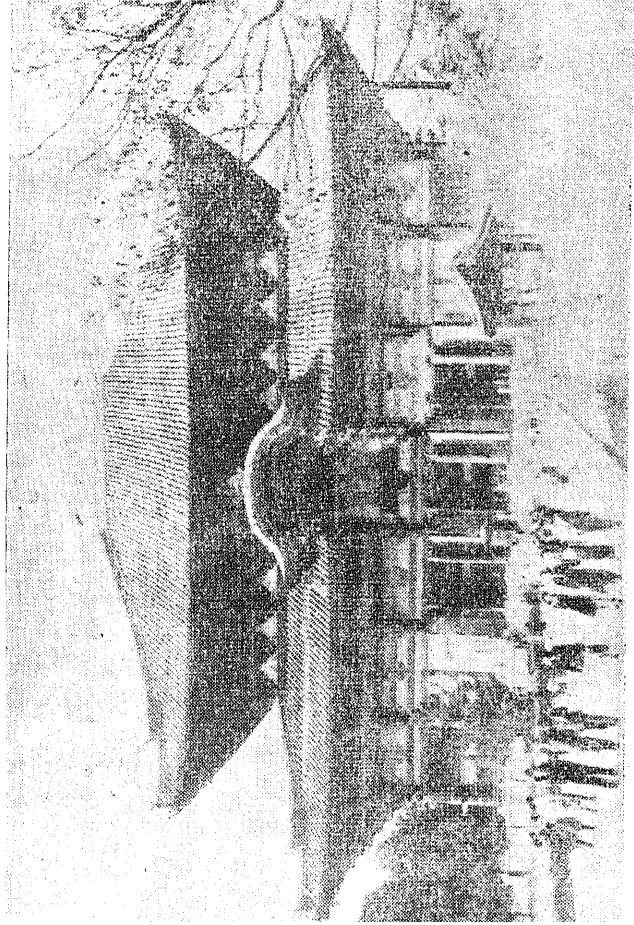
यह बुद्ध-भवन संसार भर में सबसे बड़ी लकड़ी की इमारत है।

गणना के अनुसार क्योतो की जनसख्या ग्यारह लाख, एक हजार, आठ सौ चौवन थी।

क्योतो कला-कृतियो का केन्द्र है—एक-से-एक बढकर शिल्प-कृतियो का। रेशम के कपड़े, सिल्मो-सितारे की कढाई, रँगाई और पोर्सलीन-मिट्टी के बरतन आदि के काम यहाँ विशेष रूप से होते हैं।

दर्शनीय स्थान

पुराना राजकीय महल—यह अनेक बार अग्नि की भेंट हो चुका है। वर्तमान भवन १८५५ के हैं। वर्ष मे दो बार लोग महल देखने जा सकते हैं—(१) ६ अप्रैल से १० अप्रैल तक और २८ नवम्बर से २ दिसम्बर तक। विदेशियो को अन्य अवसरो पर भी देखने की आज्ञा मिल जाती है।

पूर्व निजी महल—१८६८ मे जब मेजी वश के हाथ मे दुबारा शक्ति आई तब अस्थायी रूप से इसी महल ने राजधानी का काम दिया था। यही से मेजी-नरेश ने सामतशाही को नष्ट करनेवाली पहली घोषणा की थी। १८७१ से १८८४ तक इस महल का क्योतो-प्रदेश-कार्यालय के तौर पर प्रयोग हुआ। उस समय इस महल की अमूल्य कला कृतियो की बहुत हानि हुई। जब से यह राजकीय महलो मे से एक माना जाने लगा है, तब से इसकी कला-कृतियो की हानि को पूरा करने के विशेप प्रयत्न किए गए हैं।

शुगक्विन् राजकीय उद्यान—इसमे तीन वडे-बडे उद्यान हैं। ये तीनों एक-दूसरे से थोड़ी-थोड़ी दूरी पर है। जो सबसे अधिक ऊँचाई पर है, वह

कामी-न-ओछया, जो वीच मे है वह नक-न-ओछया और जो सबसे नीचे है, वह शिम-न-ओछया कहलाता है।

कुत्सुरा राजकीय उद्यान—यह सम्राट् ओगीमची के पोते के लिए तोयोतोमी हिडेमोशी (१५३६–१५६८) द्वारा बनवाया हुआ मनोरम उद्यान है। इस उद्यान की विशेषता यही है कि दर्शक कहीं भी खड़ा हो, उसे लगता है कि मैं सामने की ओर खड़ा हूँ। कहा जाता है कि उद्यानो की दाग-बेल प्रसिद्ध कलाकार कोबेरी एनूशू (१५७६–१६४७) ने ही अपने हाथ से डाली थी। यह भी प्रसिद्ध है कि जब तोयोतोमी हिडेमोशी ने कोबोरी को उद्यान की दाग-बेल डालने के लिए बुलाया तब कोबोरी ने पहले तीन शर्तें स्वीकार कराईं। पहली—खर्च चाहे जितना भी हो; दूसरी—काम की समाप्ति की जल्दी न हो; और तीसरी—उद्यान बनकर पूरा होने के पहले आकर देखा न जाय। १८८३ में यह उद्यान राजकीय परिवार के हाथ मे आ गया और तब से इसकी यथोचित मर्यादा बनाए रखने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाते हैं।

दोशिश विश्वविद्यालय–राजकीय महल के उत्तर में जापान के ईसाई विद्यालयो में यह सबसे महत्त्वपूर्ण है। विदेशों में धर्मप्रचार करने-वाले अमरीकी बोर्ड के सहयोग से दो जापानियों द्वारा १८७३ मे इसकी स्थापना हुई। इसमें पोस्ट ग्रेजुएट पढाई के अतिरिक्त, कानून, साहित्य, अर्थशास्त्र, व्यापार, इजीनियरिंग और ईसाई पुराण-शास्त्र की पढ़ाई होती है। इसमे लगभग ८००० शिक्षार्थी शिक्षा पाते हैं। इसके साथ स्त्रियो का विश्वविद्यालय भी है।

देतोकुजी मन्दिर—नगर के उत्तरी हिस्से में रिंजाई-सम्प्रदाय के बड़े-

बडे मन्दिरों में से एक है। इसकी स्थापना १३२४ में हुई थी और यह अपनी शानदार इमारतों के लिए विख्यात था। वर्तमान भवन १४७६ के बने हैं। ऊपर के भवन में बुद्ध और उनके दो शिष्यो—आनद तथा काश्यप की मूर्तियाँ हैं। इसके उद्यानो का आयोजन जापान के एक प्रसिद्ध माली-विश्वकर्मा ने किया था और यह जापान के उद्यान-निर्माण के कला-पक्ष की पराकाष्ठा माना जाता है। देतुकुजी मन्दिर में अमूल्य कृतियो की कमी नहीं है।

होगजी मंदिर—क्योतो स्टेशन से थोडी ही दूरी पर जोदो शिंशु-सम्प्रदाय के दो मन्दिर हैं। हिंग-शी छोटा प्रधान कार्यालय है। और निशी बड़ा प्रधान कार्यालय। हिंग-शी-मन्दिर चार बार अग्निसात् हुआ। वर्तमान मन्दिर देशभर के सम्प्रदाय-श्रद्धालुओ के चन्दे से १८६५ में बनकर तैयार हुए। चन्दे मे भक्तजनो के सिर के बालों से बने हुए ५० रस्से भी हैं। ये रस्से भवन के निर्माण मे काम मे लाए गए थे और अब भी सुरक्षित हैं। निशी-होगजी क्योतो के सुन्दरतम मन्दिरों में से एक हैं। अनेक कला-समालोचको का कहना है कि बौद्ध स्थापत्य-कला के नमूनो मे सर्वश्रेष्ठ यही निशी-होगजी मंदिर है। इसके अनेक भवन जनता के लिए बन्द हैं, किन्तु विदेशी दर्शको को उन्हे देखने की अनुमति मिल जाती है।

जोदो शिंशु-सम्प्रदाय के सस्थापक शिनरन की विशेषता थी कि उसने मुक्ति की साधना मे न अविवाहित जीवन की आवश्यकता स्वीकार की और न शाकाहार की। वह श्रद्धा को मुक्ति का प्रधान साधन स्वीकार करता है और श्रद्धा की प्रतिष्ठा के लिए 'नमुअमिद-बुत्सु' मन्त्र का नामोच्चारण। हिग-शी होगजी मन्दिर मे शिनरन की एक काष्ठ-मूर्ति है जो

स्वय शिनरन द्वारा उत्कीर्ण मानी जाती है। उस मूर्ति के दाएँ-बाएँ शिनरन के सभी उत्तराधिकारियो के चित्र हैं।

होकोकुजी मन्दिर–निशी होगजी मन्दिर के पास ही निचरेन सम्प्रदाय के चार बड़े मन्दिरो मे से यह एक है। पहले यह कामकुरा मे स्थित था। इसका मुख्य भवन निचरेन के एक शिष्य द्वारा नकल की गई 'सद्धर्म-पुण्डरीकसूत्र' की एक प्रति तथा शाक्य मुनि की मूर्ति को समर्पित है। मुख्य भवन के दक्षिण—एक भवन मे निचरेन की मूर्ति स्थापित है।

क्यो ओगोकुजी मन्दिर–यह मन्दिर जनता मे तोजी मन्दिर के नाम से विख्यात है। इसकी स्थापना ८२३ मे शिन्गोन-सम्प्रदाय के तेजस्वी सस्थापक कोबे-देशी द्वारा हुई। इसका पँच-तल्ला पैगोडा जापान भर मे सर्वाधिक ऊँचा स्तूप है। यहाँ का भण्डार काष्ठ-निर्मित है, जिस-मे एक भी लोहे की कील-काँटी का उपयोग नहीं हुआ है। इसमे प्राचीन कला-कृतियो का इतना बड़ा सग्रह है, जितना बड़ा क्योतो के और किसी मन्दिर मे नहीं है।

मरुमय पार्क–यह क्योतो का मुख्य सार्वजनिक पार्क है। पहले यहाँ अनेक मन्दिर थे, किन्तु अधिकाश आग की बलि चढ गए। उद्यान का सबसे बड़ा आकर्षण यहाँ के चेरी के पेड हैं। जब पेड़ पुष्पित होते हैं तब रात में पेड़ों को झुरमुटों को दीपो से प्रज्वलित कर देते हैं। यह अनुपम दृश्य हजारो दर्शकों को आकर्षित करता है।

इयोन-इन-मन्दिर–यह जोदो-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है। इसकी स्थापना प्रसिद्ध पुरोहित होनेन ने १२११ मे की थी। जोदो-सम्प्रदाय के अनुयायियो की अतिम आकाक्षा है—मरने के बाद जोदो (पवित्र-देश)

अथवा अमिताभ बुद्ध के स्वर्ग मे पैदा होने की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जोदो-सम्प्रदाय के अनुयायी को दिन-रात 'नमु-अमिदुबुत्सु' मन्त्र का उच्चारण करना होता है। श्योन-इन न केवल क्योतो मे, बल्कि देश भर के अत्यन्त प्रसिद्ध तथा महात्तम मन्दिरो मे से एक है। इसका क्षेत्र-विस्तार ३० एकड से कम नहीं है। मदिर के दक्षिण-पूर्व की ओर एक घण्टा-घर है, जिसमे जापान मे अपने ढग का सबसे बडा एक घण्टा लटका हुआ है। इसका निर्माण १६३३ मे हुआ था। इसके आकार-प्रकार का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसकी ऊँचाई १७ ४ फुट है, गोलाई ८ ४ फुट और वजन १८५० मन। मुख्य भवन के दक्षिण-पूर्व मे एक शास्त्रगृह भी है जिसकी रचना १६१६ मे हुई। इसमे शु ग-वश के समय चीन मे मुद्रित सभी बौद्ध-सूत्र सगृहीत हैं। इस मदिर मे कला की दृष्टि से अनेक अनुपम वस्तुएँ सगृहीत हैं, जिनमे एक है ४८ खण्डो मे तोस मित्सुयोशी द्वारा सम्पादित होनेन का सचित्र जीवन-चरित्र।

हाइन-मन्दिर—यह ओकजाकी पार्क का प्रसिद्ध शिन्तो-मन्दिर है। इसमे सम्राट् कम्मु तथा सम्राट् कोमी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। सम्राट् कम्मु द्वारा क्योतो नगर की स्थापना के ११०० वर्ष बाद १८६५ मे इसकी स्थापना हुई। १५ अप्रैल को इस मन्दिर का वार्षिक उत्सव होता है। किन्तु २२ अक्तूबर को होनेवाला एक दूसरा उत्सव विशेष महत्त्व का है और विशेष रूप से प्रसिद्ध भी है। इस उत्सव की विशेषता है एक असाधारण जलूस। इसमे क्योतो के इतिहास के भिन्न-भिन्न युगो का प्रतिनिधित्व करनेवाली भिन्न-भिन्न तरह की वेश-भूषा पहने लोग नगर के बाजारो मे से गुजरते हैं।

क्येतो-विश्वविद्यालय—यह १८६७ मे स्थापित हुआ। इसमे कानून, अर्थशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, साहित्य, विज्ञान, इजीनियरिंग और खेती-बारी के कालेज हैं। साहित्य-कालेज के अजायबघर मे इतिहास तथा पुरातत्त्व के अध्ययन के लिए बहुत-सी प्राचीन सामग्रियाँ हैं।

तो-फु-कुजी मन्दिर—यह १२३६ मे स्थापित हुआ। इस मन्दिर मे सेस्शु (१४२०–१५०६), शोदेन्शु आदि महान कलाकारों के बहुत-से ऐसे चित्र हैं जो अन्यत्र अलभ्य हैं। इनमे एक अत्यन्त प्रसिद्ध चित्र है—'शाक्यमुनि का निर्वाण-प्रवेश'। इसकी लम्बाई ३६ फुट और चौड़ाई २६ फुट है। १५ मार्च को प्रतिवर्ष शाक्यमुनि की पूजा के दिन इस चित्र का प्रदर्शन होता है। इस चित्र मे शाक्यमुनि के महापरिनिर्वाण के समय उनके आसपास जो लोग और पशु शोकाकुल मुद्रा मे विद्यमान हैं, उनमे एक बिल्ली भी है। इस प्रकार के दूसरे चित्रो मे सामान्य-रूप से बिल्ली नहीं दिखाई जाती। कहा जाता है कि जिस समय शोदेन्शु चित्र बनाता था तो एक बिल्ली सदैव उसके पास बैठी रहती थी। एक दिन चित्रकार ने बिल्ली को भी अन्य पशुओ के साथ चित्रपट पर अंकित कर दिया। उसके बाद से उस बिल्ली ने वहाँ बैठना छोड़ दिया।

एनरयोकोजी मन्दिर—यह 'ही' पर्वत-शिखर पर पेडो के मध्य मे निर्मित है। ऐतिहासिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियो से एनरयोकोजी का स्थान देश के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मन्दिरो मे है। इसकी स्थापना ७८८ मे सम्राट् कम्मु की आज्ञा से, तेन्दाई सम्प्रदाय के संस्थापक देंगयो देशी द्वारा हुई थी। इसकी स्थापना का एकमात्र उद्देश्य था उत्तर-पूर्व से आनेवाली दुष्ट आत्माओ से राजधानी की रक्षा करना। आगे चलकर

यह मन्दिर कल्याण-भूमि न बनकर अभिशाप-स्थल सिद्ध हुआ। यह छोटा-सा मन्दिर शनैः-शनैः बड़ा होकर शस्त्रधारी अशाति-कारक पुरोहितो का गढ बन गया। ये पुरोहित समय-समय पर राजधानी पर आक्रमण करते और राजकीय परिवार के लिए बराबर खतरा बने रहते।

रयो-अनजी मन्दिर—यह मन्दिर एकमात्र अपने अद्भुत पाषाण-उद्यान के लिए प्रसिद्ध है। इस उद्यान की विशेषता है कि इसमें कहीं एक भी पेड नहीं है। इसकी सरलता इस पराकाष्ठा को पहुँची हुई है कि जनसाधारण को इसमे कुछ आकर्षण ही नहीं दिखाई देता। लगता है कि बालू के मैदान मे जहाँ-तहाँ कुछ पत्थर डाल दिये गये हैं। यह प्रसिद्ध योजनाकार सोमी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। सोमी पर जैन-सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था।

सीरयोजी मन्दिर—इसके मुख्य भवन मे शाक्य सिह की पॉच फुट दो इच ऊँची एक मूर्ति होने के कारण यह मन्दिर सामान्यतः शा-क-दो के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि यह चन्दन की मूर्ति विश्वकर्मा द्वारा बनाई गई और चीन के रास्ते भारत से जापान पहुँची। जनता १६ अप्रैल को ही इस मूर्ति के दर्शन कर सकती है।

से होजी मन्दिर—यह रिजई समुदाय का मन्दिर है। एक असाधारण बात के लिए यह विश्वविख्यात है। यहाँ असाधारण मोटाई की, नाना रगो की सुन्दर काई उगी हुई है। इसीलिए यह मन्दिर को-के देर अथवा काई-मन्दिर भी कहलाता है।

'क्योतो' के अनेक मन्दिरो मे से कुछ का उपर्युक्त वर्णन क्या यह सिद्ध नही करता कि 'क्योतो' सास्कृतिक दृष्टि से जापान का उज्जैन है और धार्मिक दृष्टि से जापान की काशी?

चित्र-कला और नाट्य-कला

'कला' शब्द बहुत व्यापक है। ससार मे 'चित्र-कला' से लेकर किसी की जेब कतरने की कला तक न जाने कितनी 'कलाएँ' हैं। ललित कलाओ मे जिन दो-चार 'कलाओ' का स्थान है उनमे चित्रकला, नाट्यकला, सिनेमा और सगीत मुख्य हैं।

चित्रकला

पाश्चात्य चित्रकला मे तैल-चित्रो की प्रधानता है, किन्तु जापानी चित्रकला मे पानी से बनाए रगो से बने चित्रो का ही विशेष महत्त्व है। रूप-चित्रण मे पाश्चात्य कला प्रायः आकार प्राकार के चित्रण को विशेष महत्त्व देती है। पूर्व मे रूप के आकार-प्रकार की अपेक्षा क्रिया को चित्रित करने पर अधिक जोर दिया जाता है—विशेषरूप से जब बुद्ध के समान किसी महामानव को चित्रित करना अभीष्ट हो। पशुओ तथा पौधो तक को चित्रित करने मे भी पश्चिमी चित्रकार, प्रायः वस्तु को वस्तु-रूप मे

चित्रित करने पर ध्यान देता है; किन्तु पूर्व का चित्रकार, यथासम्भव, रूप के बाह्य आकार-प्रकार को चित्रित करने के साथ-साथ उसकी भावनाओं को भी चित्रित करता है।

जापान में बौद्धधर्म के प्रवेश के पहले जापानी चित्रकला ने कुछ विशेष उन्नति नही की थी। जापान को चित्रकला के बारे में जो सबसे अधिक प्रेरणा मिली वह कोरिया के रास्ते चीन से ही आई थी। वस्तुतः यह प्रेरणा उसे बौद्धधर्म के साथ-साथ मिली। इसलिए जापान के आरम्भिक चित्र प्रायः धार्मिक ही हैं।

नवी शती के आरम्भ मे जापानी चित्रकला ने विशेष प्रगति की। इस युग के चित्रो में 'अमिताभ बुद्ध' तथा बोधिसत्त्वो के स्वर्ग से अवरोहण के चित्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कोय-पर्वत पर स्थित कोय-विहार मे इस प्रकार की एक अत्यन्त श्रेष्ठ कला-कृति सुरक्षित है।

धार्मिक चित्रो के अतिरिक्त लौकिक चित्रो के विकास का श्रेय भी इसी युग को है। यह सबसे अधिक उन लम्बी लम्बी पत्रियो मे देखा जाता है, जिनमे उपन्यास-के-उपन्यास चित्रित हैं। इसी युग की एक प्रसिद्ध लेखिका मुरसकी-शिकिबु के 'गेनजी-मोनोगतरी' नामक उपन्यास के सारे कथानक को तकयोशी ने चित्रित किया है।

इसी युग मे जापानी चित्र-कला पर से चीनी-चित्रकला का प्रभाव घटा और शुद्ध जापानी चित्रकला विकास को प्राप्त हुई। आगामी युग इसी युग का प्रसार-मात्र है। कामाकुरा युग मे जापानी चित्रकला मे दो भिन्न शैलियों का विकास स्पष्ट है। एक शैली मे रगो की प्रधानता है तो दूसरी मे केवल 'काले और सफेद' की।

मिनचो और जोसेत्सु नाम के दो बौद्ध भिक्षुओं ने चीनी शैली को जन-प्रिय बनाने में बड़ा काम किया। चीनी शैली को सम्पूर्णता की पराकाष्ठा तक पहुँचाने का श्रेय यदि किसी को है तो वह है जोसेत्सु के ही एक शिष्य शुबुन को। उसके शिष्य सेशु ने भी इस परम्परा को जारी रखा और इसके बाद कलाकारों की यह लम्बी परम्परा दीर्घकाल तक चलती रही।

जापान की सभी कलाओं का मूल स्रोत 'धर्म' ही है, किन्तु मोमोयम-युग के बाद ऐसी कला का प्रभाव शनैः-शनैः कम होता गया और आगे चलकर धार्मिक, सांस्कृतिक और सामान्य सभ्यता में स्पष्ट रूप से विभाजक रेखा खिंच गई। इतोकु (१५४३–१५९०) ने कानो शैली और इसके ढंग में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। उसके बाद इतोकु के शिष्य सनरकु (१५५९–१६३५) ने भी अपने गुरु के कार्य को जारी रखा और इस नई शैली को पूर्णता प्रदान की।

जब तोकुगावा शासकों ने इडो (तोक्यो) को अपनी राजधानी बनाया तब उन्होंने क्योतो की कला-कृतियों को क्योतो से तोक्यो में भी लाना चाहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कानो-शैली के उस्तादों को नई राजधानी में आकर बसने का निमन्त्रण दिया। निमन्त्रितों में एक तान-यू था। उसमें यद्यपि इतोकु की कल्पना-शक्ति का अभाव था, तथापि वह चीनी तथा जापानी शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण करने में खूब सफल रहा। १८६८ तक तान-यू की शिष्य-परम्परा ही राजकीय चित्रकारों के पद पर प्रतिष्ठित थी।

मरूयम ओक्यो ने मरूयम-शैली की स्थापना की। यह प्रकृति का

महान चित्रकार था। लगता है कि पश्चिम मे प्रकृति-चित्रण को लेकर जिन सिद्धातो का विकास हुआ, जापानी चित्रकला मे उनका सबसे पहले इसी प्रतिभा के धनी ने उपयोग किया।

चीन से आई हुई 'नग'-शैली को जापान मे इदो-युग के मध्य मे ही मान्यता मिली। चीनी चित्रकला के उत्तरी तथा दक्षिणी शैलियो मे स्पष्ट भेद था। पहली मे तेज अधिक था; दूसरी में कोमलता। 'नग'-शैली दक्षिण की शैली थी। यद्यपि चीन में यह बहुत पुराने समय से ही प्रतिष्ठित थी, किन्तु जापान में इसने १८ वीं शती में ही प्रवेश किया।

इदो-युग की समाप्ति के आसपास जापानी चित्रकला के आकाश मे कई जगमगाते नक्षत्र उदित हुए जिनमें दो विशेष प्रसिद्ध हैं--तनोमुरा चिकुदेन (१७७७–१८३५) तथा वतनबे कजन (१७९३–१८४१)। चिकुदेन बड़ी ही ऊँची भावनाओ का कलाकार था और अपनी कलाकृतियों के सौष्ठव के लिए प्रख्यात भी था। कजन तूलिका का धनी तो था ही, साथ ही उसने कन्फ्युशियस-वाङ्मय भी खूब पढा था और डच भाषा के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भी उसे खासी जानकारी प्राप्त थी।

युकियो-ए शैली का सर्वप्रथम दर्शन रदो-युग (१० वीं शती) के आरम्भ में ही होता है। इसका उद्देश्य था, लोगो के—विशेषरूप से निम्न-स्तर के लोगों के—सामाजिक जीवन को चित्रित करना। सामान्यतया इकुस मतबे (१५७८–१६५०) युकिओ-ए शैली का पुरस्कर्ता माना जाता है। किन्तु हिशिकबा-मोरोनोबु पहला महान उस्ताद था, जिसने युकिओ-ए शैली को विशेष रूप से पुरस्कृत किया।

यह ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है कि जापानी रंग या रगीन ठप्पेदार मुद्रणो

का किसने कब आविष्कार किया? तो भी नारा-युग तक इनका पता चलता है। यो युकिओ-ए चित्रकारो को ही इसका श्रेय दिया जाना चाहिए। ये रगीन मुद्रण-कला-कृतियो का स्थान प्राप्त कर सके। आरम्भ में युकिओ-ए शैली के चित्र (जिनमे जनसाधारण का दैनिक जीवन चित्रित किया गया था) ही अपने वास्तविक वर्णों मे मुद्रित किए गए थे। कला-रसिको ने उनकी ओर ध्यान नही दिया। जब वे सैकड़ों की सख्या मे नागासाकी के व्यापारियो द्वारा हालैंड पहुँचे तथा अमरीका और फ्रास मे भी एक साथ प्रशसित हुए तब जापानी जनता तथा कलाविदो ने भी उनका आदर करना आरम्भ किया। इनकी माँग बढने लगी और आज ऐसे अलभ्य मुद्रण के लिए लोग हजारो 'येन' देने को तैयार रहते हैं। इन मुद्रणो की कीमत लगाते समय धनी जापानी भी प्रायः किसी से पीछे नही रहते।

इन रगीन ठप्पेदार मुद्रणो की अनोखी विशेषता ने ही इन्हे सारे ससार मे इतना अधिक जनप्रिय बनाया है। इनमे तीन तरह के कलाकारो का एक साथ सहयोग रहता है—चित्रकार, उत्कीर्ण-कर्ता और छापने-वाला। विदेशो मे इन कला-कृतियों के सर्वश्रेष्ठ नमूने बोस्टन, न्यूयार्क और लंदन मे हैं।

इस समय जापानी चित्रकार एक से अधिक संस्थाओं मे सगठित होकर कार्य कर रहे हैं। उन संस्थाओं की विशेषता यह है कि उनका सरकार से कोई संबध नहीं है।

मूलगन्ध-कुटी-विहार, सारनाथ (बनारस) के भित्ति-चित्रो के लिए भारत जापान का ही कृतज्ञ है और रहेगा।

नाट्य-कला

यह कहना कठिन है कि चित्रकला की भाँति नाट्य-कला का आरम्भ कब हुआ। किन्तु इसका मूल कहीं-न-कहीं जापान के पौराणिक युग मे ही छिपा मालूम होता है। कहा जाता है कि किसी समय सूर्य-देव अपने भाई से असन्तुष्ट हो किसी गुफा मे जा छिपे थे। उस समय सारा ससार उसी प्रकार अन्धकारपूर्ण हो गया था, जिस प्रकार हनुमानजी के 'बाल रवि' के भक्षण कर लेने पर हुआ था। तब भारतीय नारद मुनि-सदृश किसी जापानी देवता ने उस गुफा के मुँह पर नाटक किया जिससे प्रसन्न हो सूर्यदेव बाहर आए और किसी-न-किसी तरह ससार पुनः प्रकाशमान हुआ। अस्तु, जापानी नाट्य-कला का मूल कहीं भी हो, यह मानना पडेगा कि जापान मे अति प्राचीन काल से 'कगुरा' खेलने का रिवाज चला आया है। इसमे नाटक के पात्र अपने मुँह पर तरह-तरह के चेहरे लगा लेते है और सगीत के साथ लीला करते हैं—कुछ-कुछ रामलीला या कृष्ण-लीला की ही तरह।

'कला' की तराजू पर तौलने से शायद यह 'कगुरा' विशेष मूल्यवान न सिद्ध हो, किन्तु नाट्य-कला का प्रारम्भिक रूप होने से इसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है।

जापानी में 'नोह' एक विशेप प्रकार के नाटक को कहते हैं। 'नोह' शब्द का अर्थ भी 'नाटक' ही है। 'नोह नाटकों' मे लीला के साथ-साथ सगीत और नृत्य पर्याप्त मात्रा मे रहता है और सामवेद के मन्त्रो की तरह पढा कम, पर गाया अधिक जाता है। इनके विपय प्रायः ऐतिहासिक होते हैं। इनमें से अधिकाश

की रचना बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा हुई है। इसलिए स्वाभाविक तौर पर इनमें बौद्ध दृष्टिकोण की प्रधानता है। अधिकांश नोह-नाटक चौदहवीं शती मे लिखे गए। अनेक लेखक स्वय नाटको मे भाग लेते थे।

कहा जाता है कि लगभग एक हजार नोह-नाटको की रचना हुई थी जिनमें से लगभग ८०० विद्यमान हैं। इनमें से २४२ नाटक आजतक खेले जाते हैं। इस समय नोह-नाटकों की पॉच भिन्न-भिन्न शैलियाँ प्रच-लित हैं। प्रशान्त महासागर के युद्ध के बाद पॉचों शैलियो के प्रतिनिधियों ने नोह-नाटको के विकास तथा प्रचार के लिए सम्मिलित उद्योग से एक सस्था खड़ी की है। उसी सस्था के तत्त्वावधान मे हर महीने नोंह-नाटको का प्रदर्शन होता है। नाटकों के अशों का पाठ मध्य-वर्ग तथा ऊँचे वर्ग मे बहुत लोकप्रिय है।

नोह-नाटको के साथ-ही-साथ क्योगेन अथवा प्रहसनो का भी विकास हुआ है। वे प्रायः नोह-नाटकों के गभीर प्रकरणो में श्रोताओ के मान-सिक तनाव को कुछ घटाने का काम करते हैं। सामाजिक कुरीतियों और व्यक्तिगत कमजोरियो पर तीखा व्यग तो उनमें रहता ही है, पर उनकी भाषा कुछ ऐसी अनगढ-सी रहती है कि वे सभी वर्गों के जापानियो का विशेष मनोरजन करते हैं।

इस समय तीन नाट्य-शालाएँ तोक्यो मे, दो क्योतो में, और एक ओसाका में हैं जहाँ केवल नोह-नाटकों का ही प्रदर्शन होता है।

एक समय तोक्यो में पाँचो प्रकार के नोह-नाटको की अपनी-अपनी नाट्यशालाएँ थीं, किन्तु युद्ध मे वे नष्ट हो गईं और अभी तक दुबारा नहीं बन सकी हैं। अब जिनकी अपनी नाट्यशालाएँ नहीं हैं वे दूसरी

नाट्यशालाओं मे ही अपनी-अपनी पद्धति के नाटकों का प्रदर्शन कर लेते हैं।

कबुकी नाटक

नोह नाटकों का विकास उच्चवर्ग की छत्रच्छाया में ही हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि शनैः-शनैः इन नाटकों मे जनसाधारण की रुचि के विषयो का अभाव हो गया। आवश्यकता थी इस बात की कि जन-नाट्य-आदोलन आरम्भ हो। कबुकी नाटको ने जनता की इस आवश्यकता और मॉग को पूरा किया। इस प्रकार के नाटकों के आरंभ और प्रचार का सारा श्रेय ओकुनी नाम की नर्तकी को है, जो एक शिन्तो-मन्दिर की 'देवदासी' थी। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शती की सन्धि के अवसर पर किसी समय वह क्योतो आ पहुँची और देशव्यापी दौरा कर एव भजन गा-गाकर धार्मिक नृत्यो का प्रदर्शन करने लगी। उसका एक प्रेमी था नगोया सञ्जबुरो। यह उसका परम सहायक सिद्ध हुआ। इस जोड़ी ने क्योतो के कामो-नद के बालू मे एक जैसा-तैसा स्टेज खड़ा किया। वहॉ अन्य कुछ लड़कियों को साथ ले वह 'देव-दासी' अपनी कला का प्रदर्शन करने लगी। जनता ने बडे उत्साह से इस मण्डली का स्वागत किया। उनकी ख्याति चारों ओर फैलने लगी। परिणाम-स्वरूप कुछ अन्य लड़कियॉ भी इस पेशे में शामिल हुईं। १६०७ के आसपास ओकुनी इदो अर्थात् वर्तमान तोक्यो चली आई। यहॉ भी उसे बड़ा यश मिला। परिणामस्वरूप नर्तकियों अथवा नटियो की सख्या अन्य नगरों मे भी बढने लगी। कुछ नर्तकियो ने आगे चलकर असाधारण ख्याति प्राप्त की। थियेटर जाना लोगो में एक फैशन हो गया।

१६२६ में इसे जोर का एक आघात पहुँचा। यह समझा गया कि उनकी वृद्धि जनता की नैतिक मान्यता पर अच्छा प्रभाव नहीं डालती। इसलिए लड़कियों का स्टेज पर आना सर्वथा निषिद्ध ठहरा दिया गया। परिणामस्वरूप वकशु-कबुकी कहलानेवाले कुछ पुलिङ्ग पात्रों को ही इन लड़कियों के भी पार्ट करने पड़े। स्त्रियों को स्टेज पर नहीं आने की यह आज्ञा उन्नीसवी शती के मध्य तक चालू रही।

१८४० के आसपास कबुकी नाट्यकला अपने विकास के शिखर तक पहुँच चुकी थी। (१) घूमनेवाला स्टेज, (२) दर्शकों के बीच तक चला जानेवाला स्टेज तथा (३) ऊपर उठनेवाला स्टेज कबुकी नाट्यकला की विशेषताएँ हैं।

अपने जापान-निवास के दिनों में लेखक को भी कबुकी नाट्य-पद्धति का एक खेल देखने का अवसर मिला। एक बड़े लम्बे-चौड़े गोलाकार घूमनेवाले चक्र पर तीन-तीन दृश्यों की एक साथ व्यवस्था देखी गई। एक दृश्यके समाप्त होते ही पहले से तैयार दूसरा दृश्य सामने आ उपस्थित होता था। दर्शकों के बीच तक चला जानेवाला स्टेज-पथ तो बचपन में, अपने यहाँ रामलीला में धनुष-यज्ञ के अवसर पर, भी देखा है। जापानी स्टेज-पथ थोड़ा और विशिष्ट होता है। ऊपर उठनेवाला स्टेज सचमुच बड़ा अद्भुत लगता है। स्टेज के बीचोबीच, खाली जगह में, अन्दर से ही एक पूरा-का-पूरा स्टेज उभर आता है।

तोक्यो, क्योतो, ओसाका तथा नगोया-सदृश नगरों में कबुकी नाटक प्रति महीने देखे जा सकते हैं।

कठपुतली नाटक

यह कला जापान को चीन की देन है। बहुत समय तक तो कठ-पुतली नाटकों के कथानक प्रायः धार्मिक ही रहे। किन्तु आगे चलकर ये लोगों के मनोरंजन के साधन बन गए। १८ वीं शती मे कठपुतली नाटको ने कबुकी नाटको तक को ग्रस लिया था, किन्तु बाद मे इनका ह्रास आरम्भ हो गया। जनता काठ की पुतलियों पर फिर जीते-जागतो को तरजीह देने लगे।

आजकल तोक्यो में भी कभी-कभी कठपुतली नाटक हो जाते हैं, किन्तु कठपुतली नाटको का प्रधान केन्द्र-स्थल है ओसाका। यहाँ वर्ष भर कठपुतली नाटक होते रहते हैं—सो भी ऊँचे दर्जे के।

कठपुतलियाँ तो तरह-तरह की होती हैं—छोटी तथा बड़ी। छोटी कठपुतलियाँ प्रायः एक फुट से अधिक बड़ी नहीं होतीं। ये अदृश्य माने जानेवाले धागों से प्रायः ऊपर से नचाई जाती हैं और बड़ी लगभग चार-पाँच फुट तक की होती हैं। जब इनका सचालन वास्तविक दक्ष कलाकारों के हाथों से होता है तो ये दर्शको को जीते-जागते पात्र मालूम पड़ती हैं। हर बड़ी गुड़िया अथवा कठपुतली को तीन सचालको की आव-श्यकता होती है।

आधुनिक नाटक

पिछले वर्षों मे नाटक लिखने और उन्हे स्टेज पर लाने की एक नई पद्धति का प्रचलन हुआ है। इस पद्धति के अनुयायियो ने अनेक पुरानी रूढियो को छोड़ कर अपने-आपको आधुनिक दर्शको के योग्य बनाने का

प्रयत्न किया है। इन नाटको में सगीत के लिए स्थान नहीं और नाट्य-कला के प्रदर्शन मे भी कम-से-कम अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। इस नवीन पद्धति का अग्रदूत था वसेदा विश्वविद्यालय का प्रो० त्सुबोचि शोयो।

इस समय जापान एक प्रकार से नाट्य-पद्धतियो का अजायब-घर ही बना हुआ है। यहाँ पुराने ढङ्ग के शास्त्रीय नोह नाटक देखे जा सकते हैं, कठपुतली नाटक देखे जा सकते हैं और आधुनिक ढग के शिम्प तथा शिंगेकी नाटक। इसमे कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं कि जापान मे प्राचीन-से-प्राचीन तथा आधुनिक-से-आधुनिक सभी ढग के नाटक देखने को मिलते हैं।

जापान में कुछ नाटक-मण्डलियाँ ऐसी भी हैं, जिनमे केवल लड़कियाँ-ही-लड़कियाँ रहती हैं। इनके नाटकों में पुरुषो का पार्ट भी लड़कियों को ही अदा करना पड़ता है।

सिनेमा

जापान मे सिनेमा ने सर्वप्रथम १६१३ के आसपास पदार्पण किया। यह जापानी-चित्रपट व्यवसाय का शैशव-काल था। स्वाभाविकतया उस समय विदेशी चित्रपट, विशेषरूप से अमरीकी चित्रपट ही अधिक बनते थे, जिनका एकमात्र उद्देश्य धनार्जन था।

१६१३ के भूकम्प के बाद जापान मे सिनेमा-व्यवसाय ने पर्याप्त उन्नति की। पहले तो अमरीकी ढग ही अपनाया गया, किन्तु बाद मे फ्रास, जर्मन और सोवियत से भी बहुत-कुछ सीखा गया।

१६५० से जापान में पाँच बड़े फिल्म-उत्पादक रहे हैं—(१) शोकिकु, (२) देई, (३) तोहो, (४) शिन्तोहो तथा (५) ताई। इनके स्टुडियो तोक्यो और क्योतो में हैं। कुछ कम्पनियाँ केवल शैक्षणिक फिल्में बनाती हैं।

जापान में ऐसे सिनेमा-भवन जहाँ नियमपूर्वक चित्रपटों का प्रदर्शन होता है, २६०० हैं। इनमें से ७० प्रतिशत केवल जापानी फिल्मों का प्रदर्शन करते हैं और ३० प्रतिशत विदेशी फिल्मों का।

१६५१ में वेनिस में जो बारहवाँ अन्तर्राष्ट्रीय सिनेमा-समारोह हुआ था उसमें सबसे बड़ा पारितोषिक जिस चित्र-पट को मिला वह प्रसिद्ध जापानी चल-चित्र 'रशोमोन' ही था।

तोक्यो की सार्वजनिक संस्थाएँ

जापान में मन्दिरो और उद्यानो की सख्या इतनी अधिक है कि उनपर अनेक ग्रथ लिखे जा सकते हैं। परन्तु, इनके अतिरिक्त अनेक सार्वजनिक सस्थाएँ अपना एक विशेष महत्त्व रखती हैं और जापान के लोक-जीवन के निर्माण मे उपयोगी कार्य करती हैं। इसलिए कुछ ऐसी सस्थाओ का परिचय यहाँ देना आवश्यक है। दो-एक मन्दिर तथा उद्यान भी इतने विशिष्ट हैं कि प्रधान रूप से अन्य संस्थाओ की चर्चा करते हुए भी उनका नामोल्लेख तो करना ही होगा।

छूत के रोगो की सरकारी सस्था

इसमें प्रधान रूप से छूत की बीमारियों के सबध में खोज-कार्य होता है। इसी की सीमा के भीतर 'सार्वजनिक स्वास्थ्य की राष्ट्रीय सस्था' है, जिसकी स्थापना रॉक-फेलर ट्रस्ट से प्राप्त धन-राशि से १६३६ में हुई।

जेमयुकुजी (मन्दिर)

कहा जाता है कि बौद्ध धर्म के शिगोन-सम्प्रदाय के प्रथम उपदेशक (७७४–८३५) द्वारा नवी शती मे इस मन्दिर की स्थापना हुई। मन्दिर अनेक बार अग्निसात् हो चुका है। मन्दिर का वर्तमान स्वरूप द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद का है। मन्दिर की सुरक्षित निधियो में कोबो-देशी के हाथ का लिखा हुआ लेख है, अनेक सुन्दर बुद्ध-चित्र हैं और कुछ उत्कीर्ण मूर्तियाँ हैं।

कोरक्यु-एन-उद्यान

यद्यपि १६२३ मे इस उद्यान के अनेक भवन नष्ट हो गए तथापि उद्यान दर्शनीय है। चीनी द्वार से उद्यान मे प्रवेश होता है, जिसपर उद्यान-सयोजक द्वारा लिखित एक लेख है। उद्यान के बीच की झील तीसरे तोकुगावा शासक की कल्पना का परिणाम है। इसके मध्य में एक द्वीप है जहाँ सरस्वती का एक मन्दिर है। जापानी जिन सात सौभाग्य की देवियो को मानते हैं उनमे सरस्वती एक है। पत्थर का पुल पूर्णचन्द्र पुल कहलाता है। इसकी रचना अर्धचन्द्राकार है, और अपनी छाया के साथ यह पूर्णचन्द्राकार हो जाता है।

वानस्पतिक उद्यान

यह तोक्यो यूनिवर्सिटी के विज्ञान-विभाग की सम्पत्ति है। क्षेत्र-फल चालीस एकड़ है और इसमें भिन्न-भिन्न तरह के चार हजार से अधिक पेड़-पौधे हैं। इनमें कुछ विशेष पुराने हैं—सत्रहवीं शती के अन्तिम भाग के।

गोकोकुजी (मन्दिर)

यह १६८१ में स्थापित हुआ। यह तोक्यो के विशालतम मन्दिरों में सेएक है। इसका क्षेत्रफल लगभग चालीस एकड़ है। मन्दिर के पिछवाड़े की पहाड़ी १८७३ से राजकीय घराने के लिए श्मशानभूमि का काम देती रही है। मन्दिर की भूमि में ही सजो, यमगाता, नुकायामा, ओकुमा, यमदा और दूसरे अनेक प्रसिद्ध पुरुषों की समाधियाँ हैं। मन्दिर की मुख्य मूर्ति 'करुणा' की है। कहा जाता है कि यह भारत से यहाँ पहुँची है।

युशिमा सीदो

युशिमा के ऊपर की ढालू भूमि पर कन्फ्युशियस का एक मन्दिर है। मूल मन्दिर १६६० में स्थापित हुआ था। बाद में अनेक बार मन्दिर भस्मीभूत हुआ। वर्तमान मन्दिर १६३५ की रचना है। बड़े भवन में कन्फ्युशियस की एक काँसे की मूर्ति है, जिसके इर्द-गिर्द दूसरे चीनी ऋषि भी हैं। पहले शोहको नाम के मन्दिर से सबंधित एक स्कूल भी था, जहाँ अनेक प्राचीन राजनीतिज्ञों ने कन्फ्युशियस से शिक्षा ग्रहण की थी।

तोक्यो विश्वविद्यालय

जापान की यह सबसे बड़ी शिक्षण-सस्था है और जापानी सरकार की निगरानी में है। इसका क्षेत्रफल १०३ एकड़ है, जिसमे से २२ एकड़ भूमि मकानों ने घेर रखी है। मध्य में एक सुन्दर उद्यान है, जिसके चारो ओर विद्या-भवन हैं। उत्तर की ओर विज्ञान, कानून, अर्थशास्त्र, साहित्य तथा और भी अधिक उत्तर की ओर हैं इजीनियरी और खेती-बारी

के भवन। उद्यान के उत्तर की ओर पुस्तकालय है, जो अपनी पुस्तको, पाण्डु-लिपियो तथा अन्य कागजो के सहित १९२३ के भूकम्प में नष्ट हो गया था, किन्तु घर और बाहर की सहायता के बल पर वह फिर पूर्व-स्थिति में ले आया गया है। १९५० में कुल विद्यार्थी-सख्या १३,६७१ थी। १९३० की ग्रीष्म ऋतु मे विश्व शिक्षा-सम्मेलन इसी विश्व-विद्यालय में हुआ था।

राष्ट्रीय अजायबघर

१९२३ में पुराना राजकीय म्युजियम बुरी तरह जल-भुन गया। १९३२ मे नए सिरे से इसका बनना आरम्भ हुआ और १९३७ मे ७१,३०,००० येन की लागत से बनकर समाप्त हुआ। १९४७ में अपनी सब प्रदर्शित वस्तुओं सहित यह राज्य को समर्पित कर दिया गया।

इसका आगे का हिस्सा ३६० फुट लम्बा है, और ऊँचाई ९६ फुट। इसकी वैज्ञानिक व्यवस्था सोलह आने आधुनिक है। भवन को न आग का डर है और न भूकम्प का। यह दोनो से सुरक्षित है। इसमे तापमान, वायु और प्रकाश की समुचित व्यवस्था है, जिससे यहाँ की सभी चीजें ठीक-ठीक देखी जा सके और सुदीर्घ काल तक सुरक्षित रह सकें।

कुल मिलाकर २५ कमरे हैं, जिनमे ५ कमरों का उपयोग विशेष अवसरो पर ही होता है। बीच-बीच मे प्रदर्शित वस्तुएँ बदलकर उनके स्थान पर दूसरी रख दी जाती हैं। केवल सोमवार के दिन अजायबघर बन्द रहता है। सालों भर ९ बजे से ४ बजे तक खुला रहता है। शुल्क है १० येन। बच्चो के लिये आधा। यहाँ की व्यवस्था का सामान्य रूप यह है—

कमरा स० १—प्राक् इतिहास-काल के मिट्टी के बरतन आदि।

कमरा स २—जापान मे बौद्धधर्म के प्रवेश के बाद के समय की धार्मिक चीजें सुरक्षित रखने के लिए लम्बे गोलाकार बक्सो मे बौद्ध-सूत्र बन्द करके जमीन मे गाड़ दिए गए हैं।

कमरा स ३—जापान के परिधानो के सुन्दर विकास-क्रम का प्रदर्शन किया हुआ है। आसानी से नष्ट हो सकनेवाली सामग्री होने के कारण प्रदर्शित नमूनों की सख्या अधिक नहीं है।

कमरा स ४—असुक-काल (५५२-६४५) मे ही वस्त्र-निर्माण-कार्य पर्य्याप्त उन्नत अवस्था मे था। इस कमरे मे जापान के वस्त्रो के पुराने नमूने सगृहीत हैं।

कमरा स ५— असुक-काल से मुरमोची काल (१३६२–१५०३) तक के जितने भी पुराने धातु के काम यहाँ प्रदर्शित किए गए हैं––वे प्रायः सभी बौद्धधर्म-सम्बन्धी हैं।

कमरा स ६—शीशे, तलवारे, जिरह-बख्तर, तलवारों के म्यान आदि यहाँ प्रदर्शित हैं। जापानियोका जिहर-बख्तर बड़ा ही कौतुकपूर्ण होता है।

कमरा स ७—जापान की तलवारे और फर्से ससार मे श्रेष्ठतम समझे जाते हैं। यहाँ प्राचीन और नवीन दोनो तरह की तलवारों के नमूने इकट्ठे किए गए हैं।

कमरा स ८—पूर्व के मिट्टी के बरतन पाश्चात्य-देशों मे अत्यधिक प्रशंसित हैं। जापान, कोरिया और चीन में बने हुए बरतन एक दूसरे से बहुत अधिक मिलते हैं। लेकिन तोभी देश और काल के भेद से सबकी

अपनी-अपनी विशेषता है। इस कमरे म बरतनो के ही अनेक नमूने इकट्ठे किये हुए हैं।

कमरा स० ६-१०—असुक-समय और बाद के समयो के शिल्पो के नमूने इन कमरो मे रखे गए हैं। सबकी अपनी-अपनी विशेपता स्पष्ट झलकती है।

कमरा स० ११—नारा-काल के पिछले हिस्से (७१०-७९४) से लगाकर कामकुरा-काल (११८५-१३९२) तक के चित्रों के नमूने यहाँ प्रदर्शित हैं।

कमरा स० १२—यहाँ मुख्य रूप से मुरोमाची युग (१३९२-१५७३) के ही चित्र दिखाए गए हैं। इस युग मे बौद्धधर्म के ध्यान-सम्प्रदाय का बोलबाला रहा है, और सुङ्ग तथा युवान देशो के अनेक चित्रों का इस देश मे आगमन हुआ है।

कमरा स० १३—मोनोयामा-युग (१५७३-१६१५) तथा इदो-युग की कला कृतियाँ यहाँ दिखाई गई हैं। ये लपेटे जानेवाले या दीवार पर लटकाए जा सकनेवाले चित्रों के रूप में हैं।

कमरा स० १४—इदो-युग (१६१५-१८६८) में लकड़ी के ठप्पो द्वारा छपे चित्रों का विकास हुआ। ये चित्र जनसाधारण को अत्यन्त प्रिय हुए। इनमे लोगो का दैनिक जीवन व्यक्त किया गया है। ऐसे ब्लाक-चित्र यहाँ सग्रहीत हैं।

कमरा स० १५, १६, १७—चीनी के बरतनों के एक-से-एक सुन्दर नमूने संग्रहीत हैं।

कमरा स० १६ तथा २०—भिन्न-भिन्न युगो के सचित्र सुलेखो के एक-से-एक बढकर नमूने रखे गये हैं।

राष्ट्रीय-विज्ञान-अजायबघर

शिक्षा-मत्रालय ने १६२८ में इसकी स्थापना की थी। यहाँ पशु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, भौतिक-भूवृत्त, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, भूगर्भ-विद्या तथा समुद्र-विद्या-सम्बन्धी वस्तुएँ प्रदर्शित हैं। सोमवार के अतिरिक्त वर्ष भर खुला रहता है। टिकट सभी के लिए ५ येन है। जापान के विश्व-विख्यात कीटाणु-शास्त्रज्ञ डा० नोगुचि हिदेयो की एक १० फुट की काँसे की मूर्ति खुले मैदान में खड़ी है। यह मूर्ति श्रीयोशिदा सबुरो की बनाई है। इसके लिए देश भरसे ४८,००,००० येन चन्दा हुआ था और मूर्ति का अनावरण सस्कार अभी १६५१ के २१ मार्च को ही हुआ है।

हिफुकुशो-अतो

नगर भर में शायद ही किसी और जगह की कहानी इतनी दर्दनाक होगी। १६२३ में जब भूकम्प आया, यह एक खुली जगह थी। भूकम्प के बाद जब आग लगी तो यह जगह उससे बचे रहने के लिए एक सुरक्षित स्थान समझी गई। आग लग जाने पर कोई चालीस हजार आदमी अपने सरो-सामान-सहित यहाँ आ इकट्ठे हुए। आस-पास की आग की चिनगारियो ने लोगों के सामान में आग लगा दी। अब भागने के लिए कहीं जगह न थी। कहा जाता है कि कोई ३५००० हजार आदमी यही जलकर राख हो गये। भूकम्प-स्मृति-भवन के तीनतल्ले पैगोडा में बड़े-बड़े बरतनो में लोगों की कोयला बनी हड्डियाँ सगृहीत

हैं। भवन की दीवारो पर विपत्ति को प्रदर्शित करनेवाले चित्र अंकित हैं। इस मनहूस मन्दिर के एक कोने मे चीनी बौद्धो का दिया हुआ एक घण्टा है जो उस विपत्ति मे मरे हुए लोगों की 'आत्माओं' को समर्पित है। १६२३ मे भूकम्प के ठीक चार दिन बाद जो धूप-बत्ती जलाई गई, वह तब से आज तक कभी बुझने नही दी गई। १ सितम्बर को—दुर्घटना के दिन—प्रतिवर्ष यहाॅ पूजा होती है।

मेजी मन्दिर—यह सम्राट् मेजी और उनकी रानी को समर्पित है। यह जापान के पवित्रतम आकर्षणों मे से एक है। यहाॅ प्रतिवर्ष बहुसख्यक यात्रियों की भीड़ लगती है। सम्राट् मेजी के कारनामो से जनता इतनी अधिक प्रभावित थी कि उसकी मृत्यु होने पर चारो ओर से लगभग एक साथ ही उसकी यादगार बनाने के प्रस्ताव-पर-प्रस्ताव आए। १६२० में यह शानदार मन्दिर बनकर समाप्त हुआ।

इस मन्दिर मे अनेक त्यौहार मनाये जाते हैं, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण त्यौहार सम्राट् मेजी के जन्म-दिन पर–३ नवम्बर को–मनाया जाता है।

होम्मोन जो—इकेगमी स्टेशन से नजदीक ही आरण्याच्छादित पहाड़ी पर बौद्धधर्म के निचिरेन-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र-स्थल है। १२७४ में निचिरेन (१२२२–१२८२) के एक अनुयायी इकेगमी मुनेनका ने इसकी स्थापना की। निचिरेन की समाधि इसी जगह बनी है। प्रतिवर्ष १२ अक्तूबर को निचिरेन की स्मृति मे मन्दिर का महान उत्सव होता है। 'मडो' नामके प्रदीप हाथ में लिये और टाम-टाम बाजा बजाते हुए हजारो श्रद्धालु उत्सव मे भाग लेने के लिए आते हैं।

मसजिद—योयोगी-उएहर स्टेशन के पास ही एक मसजिद भी

है। जापान भर मे कुल दो मसजिदे हैं। एक कोबे मे, दूसरी यह। यहाँ मुसलमान नमाज पढ़ने के लिए इकट्ठे होते हैं। यह मक्के की मसजिद के नमूने पर बनी कही जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ईसाई यूनिवर्सिटी—ईसाइयत के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्रवाद की शिक्षा देने के लिए युद्ध के बाद इस यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई है। जापानी और अमरीकी ईसाई इसके सञ्चालक हैं। इसने जापान की अन्य सभी यूनिवर्सिटियो से अधिक भूमि घेर ली है – ३५६ एकड़।

तेत्सुगकु दो—यह दर्शन-शास्त्र का मन्दिर है। १९०४ मे प्रसिद्ध दार्शनिक डा० इनोए एनरयो (१८५९–१९१९) ने इसकी स्थापना की। अभी मन्दिर अधूरा ही था कि १९१९ मे डा० इनोए का देहान्त हो गया, लेकिन सस्थापक द्वारा छोडे गए और अन्यत्र से प्राप्त अर्थ की सहायता से कार्य पूरा कर लिया गया। १३ एकड भूमि मे बने हुए भवनों मे ससार के चार महापुरुषों को समर्पित एक-एक मन्दिर है—बुद्ध का, कन्फ्युशियस का, सुकरात का और काट का।

हयक्केन—यह सौ पुष्पो का उद्यान है। अनेक साहित्यिकों की सहायता से जमीन के मालिक सवर-किकु-ऊ ने १८०१ में इस उद्यान का बीजारोपण किया। नाना तरह के पुष्प-पेड़ो के अतिरिक्त इसमे अनेक शिला-लेख हैं; जिनपर अनेक सरस कविताएँ उत्कीर्ण हैं।

युद्ध के दिनों मे अस्त-व्यस्त हो जाने पर भी यह पुष्पो का उद्यान फिर पूर्ववत् कर लिया गया है। यही नए जापान की विशेषता है।

साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाएँ

साहित्य को समाज का 'दर्पण' कहा गया है। सचमुच यह 'दर्पण' ही है और ऐसा 'दर्पण' कि जिसमे पड़ी अतीत की प्रतिच्छाया वर्तमान मे भी दृष्टिगोचर होती है और भविष्य को भी प्रभावित करती है।

प्रायः सभी जापानी विद्वान इस बारे मे एकमत हैं कि चीनी अक्षरों के आगमन से पहले जापान में कहीं किसी प्रकार का कोई 'साहित्य' न था। किन्तु कुछ कविताएँ थीं, कुछ कहानियाँ थीं, जो वंश-परम्परा से कण्ठस्थ चली आती थीं। इन्हे बड़ी सावधानी से पीढी-दर-पीढी कण्ठाग्र कर लेनेवाले इतिहासज्ञ 'कतरि-बे' कहलाते थे। ये राज-दरबार से सम्बन्धित थे और इनका काम ही था कि जाति की अनुश्रुति को पवित्रतम अवस्था में बनाए रखे।

जिस समय चीनी अक्षरो का जापान मे प्रवेश हुआ उस समय सबसे पहला काम यही किया गया कि इस प्राचीन अनुश्रुति को लेख-बद्ध कर

लिया गया। ये 'लेख' अब भी प्राप्य हैं। इनमे कुछ हैं कोजिकी (पुरानी बातो का लेखा ७१२ ई०), फुदोकि (भू-वृत्त-सम्बन्धी लेखा ७१३ ई०), उजिबुमि (वशानुगत लेखा) तथा और भी इसी प्रकार के कुछ लेख।

चीनी प्रभाव मे जापानी साहित्य

सम्राट् ओजिन के राज्यकाल मे २८५ ई० मे कोरिया का अचिकि नामक दूत वनी नाम के एक पण्डित को जापान ले आया। वह पण्डित चीनी शास्त्रो का ज्ञाता था। यह राजकुमार उजि-नो-वकिरत्सुको के गुरु के रूप में राजदरबार मे रह गया।

चीनी भाषा के जापान-प्रवेश का यही प्रथम अभिलेख है। इसके बाद से वनी के वंशजों तथा कोरिया और चीन से आनेवाले पण्डितों का ताँता ही बँध गया। उनकी सहायता से, चीनी चित्र-लिपि का आधार ले, जापानी भाषा को लेख-बद्ध करने का ढग भी शीघ्र ही बना लिया गया।

५५२ ई० में जब जापान मे बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ तब जापानी साहित्यिक प्रगति को एक नई प्रेरणा मिली और उन्हे चीनी वाङ्मय से सुपरिचित होने की और भी अधिक आवश्यकता जान पड़ी। इसका प्रधान कारण यह था कि सभी बौद्ध ग्रन्थ चीनी में अनूदित हो चुके थे।

बौद्धधर्म और चीनी शास्त्र-ग्रन्थो के प्रभाव में जापानी सरकार का ४६५ में पुनःसगठन हुआ। बाहर से पड़नेवाले इस प्रभाव की छत्रच्छाया मे जापानी साहित्य ने प्रगति आरम्भ की। अभी उस पर चीन के उन्नत साहित्य का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था।

नारा-युग

यों जापान के राजनीतिक इतिहास मे नारायुग ७१० ई० से ७६४ ई० तक माना जाता है, किन्तु यह एक प्रकार से ७०२ ई० से ही आरंभ हो गया था। उस युग को साहित्य का नारा-युग भी कहा जा सकता है, क्योकि साहित्यिक कृतियो मे से अधिकाश की रचना उसी काल मे हुई जब नारा जापान की राजधानी थी। उस युग मे सभ्यता ने बड़ी प्रगति की, और यह प्रगति सबसे अधिक चीनी वाङ्मय के अध्ययन मे अभिव्यक्त हुई। जापान से विद्यार्थियो और दूतो को चीन भेजा गया। अनेक जगहो पर चीनी भाषा के अध्ययन के लिए विद्यालय खोले गये। राजदरबारी लोगों मे यह एक फैशन बन गया कि वे चीनी मे निबन्ध लिखे और चीनी मे ही कविता भी करे। चीनी भाषा मे जापान का इतिहास लिखा गया और जापानी कवियो की चीनी कविताएँ प्रकाशित हुईं।

सबसे बड़ी बात हुई जापानी अनुश्रुति का लेख-बद्ध हो जाना और मान-यो-शू का सगृहीत हो जाना। मान-यो-शू न केवल इस युग का, बल्कि जापानी-साहित्य के सारे काव्यालोक का उच्चतम नक्षत्र माना जाता है।

इस युग का साहित्य, जैसा मान-यो-शू से प्रकट होता है, महान् कल्पनाओं और आशावाद का साहित्य है। इस ग्रन्थ मे ४५०० से अधिक कविताएँ हैं, जिनमे से अधिकाश बड़ी नहीं हैं। इनके विषय हैं, आदमी के परस्पर सम्बन्ध, प्रेम, पश्चात्ताप, चार ऋतुएँ तथा प्राकृतिक दृश्य।

कोजिकि ही जापानी-भाषा की प्रथम लिखित कृति है। साहित्य की दृष्टि से और घटनाओ की दृष्टि से भी पुस्तक बड़े ही महत्त्व की है, क्योकि यह जापान के आरम्भिक इतिहास के विषय मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री का खजाना है। कहा जाता है कि सम्राट् मोम्मु ने जब देखा कि बड़े-बड़े राज-परिवारो की वशावलियाँ सदोष हैं, तब उसने उन्हे दोष-मुक्त कराया। उसके दरबार में हीद-नो-अरे नाम का एक अद्भुत स्मरणशक्ति का व्यक्ति था, जिसके बारे मे कहा गया है कि 'जो कुछ वह अपनी आँखो से देखता था, उसे वह अपने मुँह से दोहरा सकता था और जो कुछ अपने कानो से सुनता था वह उसके हृदय मे अकित हो जाता था।'

कोजिकि को वास्तव मे किसी एक व्यक्ति की कृति माना जाय, यह कहना कठिन है।

हो-आन-युग

आठवी शती के बाद लगभग ३०० वर्ष का समय हो-आन-युग माना जा सकता है। नारा-युग मे बौद्ध-धर्म तथा चीनी शास्त्रो का जो अध्ययन आरम्भ हुआ था, वह द्विगुण उत्साह के साथ इस युग मे जारी रहा। इस युग की साहित्यिक कृतियाँ बौद्ध-धर्म की शिक्षाओ से स्पष्ट रूप से प्रभावित हैं।

दसवीं शती मे जब दूतो तथा विद्यार्थियो का चीन भेजा जाना कम होते-होते बन्द ही हो गया तब शुद्ध देशी साहित्य का आविर्भाव हुआ। ऐसी कृतियो मे तीन सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं—

(१) तकेतोरि मोनोगतरी— इसे जापान का प्राचीनतम कथानक कहा

जाता है। कथा अत्यन्त सरल है और इस प्रकार है—एक बूढा बसफोड़ (तकेतोरि) बाँस काट रहा था। एक दिन उसने देखा कि बाँस के जोड़ मे एक सुन्दर बालिका है–कुल तीन इच की। बँसफोड़ ने बच्ची को अपनी पुत्री मान लिया। जब वह बड़ी हुई तब उस बाँस-कुमारी के सौदर्य पर बड़े-से-बड़े मुग्ध हुए। पिता ने सभी को धनुष तोड़ने-जैसा कोई-न-कोई काम बताया और कर सकनेवाले के साथ लड़की को ब्याह देने का वचन दिया। कोई भी बँसफोड़ के बताये कामों को न कर सका। लड़की किसी को भी न 'वर' सकी। अन्त मे स्वर्ग से एक विमान आया और लड़की को ले गया।

(२) इसे-मोनो-गतरी—इसमे अनेक छोटे-छोटे परिच्छेद हैं, परस्पर असम्बद्ध। यदि कोई सम्बन्ध है तो इतना ही कि उनमें जिन घटनाओ का उल्लेख है वे सभी क्योतो दरबार के एक रगीन दरबारी से सम्बन्धित हैं। रचयिता अज्ञात है। उसने कथानकों को मुकशी (प्राचीन समय की बात है) से आरम्भ किया है और कथानक के बीच-बीच में कविताएँ भी दी हैं।

इसे-मोनो-गतरी प्राचीन जापानी साहित्य की एक अत्यन्त प्रशस्त रचना है।

(३) तोस-निक्की-की नोत्सुरमकि नामक राज-दरबारी की रचना है। यह उसकी डायरी के कुछ पृष्ठ हैं, जिनमे उसने तोस से जहाँ वह गवर्नर होकर नियुक्त हुआ था, वापिस क्योतो जाते समय अपनी यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है।

इस युग की एक विशेषता यह भी है कि इसने कई गद्य-लेखिकाओ को जन्म दिया। गेन्जी-मोनोगतरी की लेखिका मुरसिक शिकिबु (९०५–

१०३१) तो विश्व के साहित्य-गगन की एक उज्ज्वल तारिका है। गेन्जी-मोनोगतरी की लेखिका ने पात्रों के चरित्र-चित्रण मे कमाल किया है। सभी आलोचकों का यह मत है कि गेन्जी-मोनोगतरी ससार का एक उत्कृष्ट उपन्यास है। यह छोटी-छोटी ५४ पुस्तिकाओं म जाकर समाप्त हुआ है, और कथा के नाम पर गेन्जी और उसकी कई प्रेमिकाओ की प्रेम-क्रीड़ा के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस कृति की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह पाठक के मन पर अपनी आधुनिकता के साथ-साथ भावनाओं की व्यापकता का भी संस्कार छोड़ती है।

कमकुर-युग

११८५ ई० से १३३६ ई० तक के इस युग की विशेषता है स्त्रैण साहित्य का ह्रास और एक प्रकार की सामरिक भावना की वृद्धि। अभी तक शुद्ध चीनी शैली का व्यवहार होता था। अब चीनी तथा जापानी शैली का एक सम्मिश्रण-सा साहित्यिक अभिव्यक्ति का साधन बन। इसे ही हम आधुनिक गद्य का आरम्भ कह सकते हैं। इस युग के साहित्य मे तत्कालीन युद्धो के बहुत ही रोचक वर्णन प्राप्त हैं।

मुरोमची तथा मोमोयम युग

जापानी इतिहास के ये युग गृह-युद्ध के युग हैं। सारे देश मे ही कलह-अग्नि फैली हुई थी, किन्तु तत्कालीन राजधानी क्योतो मे विशेष रूप से। पढना-लिखना विहारों में जाकर कैद हो गया। इसलिए इस युग की यदि कोई भी साहित्यिक कृति है तो उसका रचयिता कोई-न-कोई एकान्त-सेवी साधु ही है।

सामान्य रूप से इस युग मे साहित्यिक धारा एक प्रकार से सूख ही गई थी। तोभी युग के अनुरूप एक स्वतन्त्र सरल साहित्यिक शैली ने कुछ विकास किया।

इस युग की सर्वाधिक प्रतिनिधि रचना है युते अथवा योक्योकु। ये वे नाट्यांश हैं, जिन्हे लोग सार्वजनिक तौर पर पढते हैं अथवा गाते हैं।

इदो-युग

अठारहवी तथा उन्नीसवी शती के मध्य में जापान के जातीय साहित्य ने एक जोर की करवट ली। शुद्ध प्राचीन जापानी साहित्य के अध्ययन को अनुप्राणित करनेवाले सर्वप्रथम अग्रदूत का नाम था कामो-नो-म-बुचि (१६६७–१७६६)। उसका अनुकरण किया अपने गुरु से भी अधिक ख्याति प्राप्त मोतो-ओरि नोटि तग (१७३०–१८०१) ने।

इस युग के ऐतिहासिक साहित्य मे दो महान ग्रन्थ लिखे गये–(१) दे-निहोन-शि, महान् जापान का इतिहास तथा (२) निहोन गेशि, जापान का गैर-सरकारी इतिहास। ये दोनो ग्रन्थ नैतिक-राष्ट्रीय भावना से एकदम ओतप्रोत हैं।

इसी युग ने जापान के शेक्सपीयर चिकमत्सु मोंजेमा (१६५३–१७२४) को जन्म दिया है। यह जितना प्रतिभावान् था उतना ही अध्यवसायी। यह असदिग्ध रूप से जापानी नाट्य-जगत् का सबसे बड़ा व्यक्तित्व है। इसका सबसे पहला नाटक १६८५ में तैयार हुआ और तब से मृत्यु-पर्य्यन्त वह लिखता ही रहा।

इस युग के दूसरे अर्धांश में उपन्यास तथा रोमास खूब लिखा गया। रोमास-लेखकों में क्योकुते-बकिन का नाम सर्वोपरि है। बकिन बहुत बडा

विद्वान था। उसे जापान और चीन के इतिहास, धर्म, साहित्य तथा पुराने वाङ्मय का पूरा परिचय था। अपने साठ वर्ष के साहित्यिक जीवन मे बकिन ने खूब लिखा है। उसने कम-से-कम दो सौ साठ पुस्तके अवश्य लिखी हैं, जिनमे कुछ असाधारण बडे ग्रन्थ हैं।

आधुनिक साहित्य

जिस प्रकार अतीत में भारतीय तथा चीनी विचारधारा ने जापान के साहित्यिक जीवन को प्रभावित किया, उसी प्रकार आधुनिक युग मे जापान की साहित्यिक चेतना यूरोप की साहित्यिक चेतना से पूरी तरह अभिभूत हो गई। जापान को अभी अपने-आपको उससे पूरी तरह मुक्त करने का अवसर नही मिला है।

सर्वप्रथम यूरोप को जापान ने डच भाषा के माध्यम से जानना और पहचानना आरम्भ किया। कानून तथा राजनीति की जो भी पुस्तके पहले-पहल लिखी गयीं उनके लेखक डच भाषा के ही विद्यार्थी थे। १८५८ के बाद जब शनैः-शनैः विदेशो से सम्बन्ध बढ़ा तब लोगों ने इंगलैंड, अमरीका तथा फ्रास जाना और अंग्रेजी तथा फ्रासीसी भाषा सीखना आरम्भ किया। जो देश के शासन-कार्य मे नहीं लगे थे, उन्होंने अपने-आपको शैक्षणिक तथा साहित्यिक कार्य में लगाया। इसका परिणाम यह हुआ कि रूसो, अदम स्मिथ, मिल, स्पेन्सर, डारविन आदि सभी जापान को अपनी जापानी भाषा मे प्राप्त हो गए।

यद्यपि जर्मन भाषा का अध्ययन फ्रासीसी भाषा की अपेक्षा बाद मे आरम्भ हुआ, तथापि इसने फ्रासीसी भाषा की अपेक्षा जापानी साहित्य को कहीं अधिक प्रभावित किया है। इसीके माध्यम के द्वारा न केवल

सैनिक तथा चिकित्साशास्त्र का अध्ययन हुआ है, बल्कि कानून, दर्शन तथा सामान्य साहित्य का भी।

आगे चलकर, रूसी साहित्य, विशेष रूप से रूसी उपन्यास ने ध्यान आकर्षित किया।

यथार्थवादी उपन्यासकारों में तीन नाम प्रमुख हैं—(१) त्सुबोछि शोयो, (२) ओजकी कोयो तथा (३) कोय रोहन। वसेदा विश्व-विद्यालय के साहित्याध्यापक शेयो ने यथार्थवादी आन्दोलन को बहुत आगे बढ़ाया। अपने एक ग्रन्थ शोसेत्सु शिंज्वी (उपन्यास की आत्मा) में उसने बकिन-प्रतिपादित बनावटी सदाचार की बड़ी निन्दा की है। उसका तोसेशोसे कतगि (आधुनिक विद्यार्थियो के नमूने) यथार्थवादी उपन्यास का एक नमूना है।

दुर्भाग्य से कोयो का असमय मे ही शरीरात हो गया। उसने अनेक उपन्यास लिखे हैं, जिनमे कुछ बड़े प्रसिद्ध हैं—इरोंजगे (प्रेम की पाप-स्वीकृति); तजो तकोन (अधिक अनुभूति, अधिक घृणा); और कोजिकियश (सुनहरा-प्रेत)

रोहन किसी समय क्योतो-विश्वविद्यालय मे अध्यापक था। उसने भी कई उपन्यास लिखे हैं।

तोकुतोमि रोक ने भी कई जनप्रिय उपन्यास लिखे हैं जिनमें से एक होतोगिसु (कोयल) अंग्रेजी तथा अन्य कई भाषाओं में अनूदित है।

प्रकृतिवाद की धारा के विरुद्ध जापान मे दो साहित्यिक विचार-धाराओ का अविर्भाव हुआ—एक मानवतावादी विचारधारा, दूसरी सौन्दर्यवादी विचारधारा।

१९२३ के भूकम्प के बाद जापानी साहित्यक प्रगति मे भी एक प्रकार से भूकम्प-सा आ गया। उसकी मुख्य धारा स्पष्टरूप से जनवादी हो गई। लोग प्रधान रूप से जनता के लिए लिखने लगे। १९३० के बाद से इस 'जनता के लिए' लिखने की गति मन्द पड़ गई। १९३७ के बाद तो जापान का सारा साहित्य युद्ध की दुन्दुभि बजा उठा। अपने शब्दो मे कहें तो सारा साहित्य 'गीता-साहित्य' हो गया।

१९४५ में जापान की पराजय ने उसकी युद्धप्रिय प्रवृत्ति का दिवाला निकाल दिया। युद्ध के दिनों मे जो स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था, वह हट गया। इस युग में जो उपन्यास लिखे गए उनमे सर्वाधिक जनप्रिय वही हुए जिनमे जापान की पराजय से उत्पन्न नैतिक पतन को अत्यन्त जोरदार शब्दों में चित्रित किया गया है।

युद्ध के बाद से अमरीकी साहित्य भी जापान मे खूब खप रहा है जो स्वाभाविक है।

साहित्यिक कृतियों के लिए दिए जानेवाले पुरस्कारों मे तीन पुरस्कार मुख्य हैं—(१) वर्ष में दो बार अपरिचित अधिकारी साहित्यिक प्रतिभाओं के सम्मानार्थ दिया जाता है, (२) वर्ष मे एक बार तथा (३) सर्वश्रेष्ठ कहानियों के लेखकों को वर्ष में दो बार।

'निप्पोन गेक क्योके' जापानी साहित्यिकों की अपनी संस्था है, जिसकी सदस्य-सख्या पर्याप्त है। इसका उद्देश्य अन्य अनेक बातों के साथ-साथ साहित्यिको का व्यक्तिगत हितचिन्तन भी है।

पत्र-पत्रिकाएँ

यों पत्रारम्भ के इतिहास को सतरहवीं शती के आरम्भ तक भी
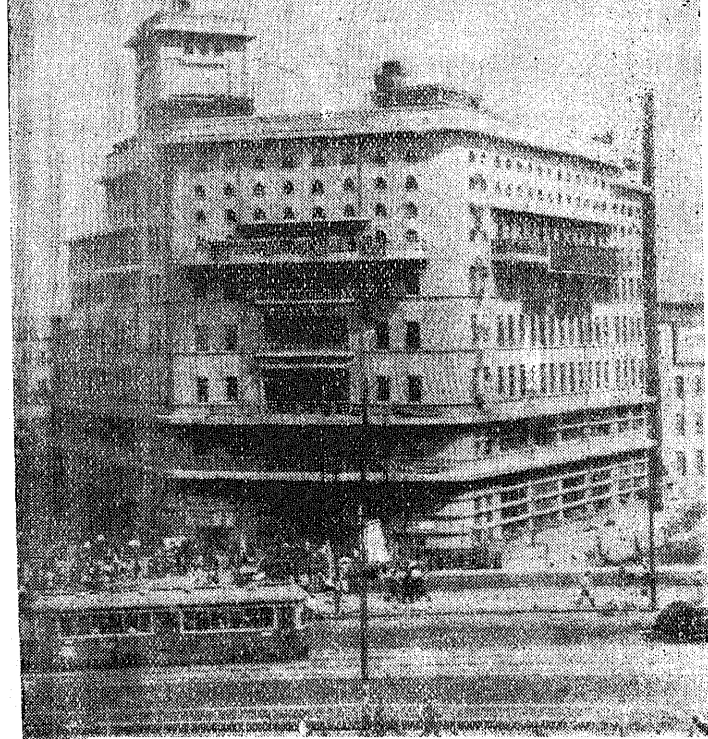
दैनिक 'असाही' का तोक्यो-स्थित कार्यालय (पृ० १४२)

खींचा जा सकता है, किन्तु जापान मे सबसे पहला शिम-बुन-शि (समाचारपत्र) १८६४ मे ही छपा। इसके बाद ही तोक्यो के वर्तमान प्रसिद्ध दैनिक 'निशि-निशि' का पूर्वज निशिनशिनजी-शु का आरम्भ हुआ। इसके बाद लगातार अनेक दैनिक निकलने लगे। शिक्षा के प्रसार, धन की बहुलता, राजनैतिक घटनाओ और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो ने मिलकर प्रेस और उसके प्रभाव को इधर खूब ही बढा दिया है।

१६३१ मे जापान मे १२०० दैनिक तथा ७७००० साप्ताहिक तथा अर्ध-साप्ताहिक छपते थे। लेकिन जब दूसरे विश्वयुद्ध मे वाणी पर प्रतिबन्ध लगा तो तोक्यो से निकलनेवाले दैनिकों की संख्या पाँच थी, ओसाका से निकलनेवालो की सख्या चार! इस प्रकार समस्त देश से ५५ से अधिक पत्र नहीं निकल सकते थे।

१६४५ से फिर शनैः-शनैः प्रेस ने अपना पूर्व रूप धारण करना आरम्भ किया है। इस समय वह अमरीकी प्रेस-कोड के मातहत, जितना स्वतन्त्र हो सकता है, उतना स्वतंत्र है।

तोक्यो तथा ओसाका से प्रकाशित होनेवाले प्रधान दैनिको की सख्या २८ है। यह देश भर मे प्रकाशित होनेवाले ११६ दैनिको के २५ प्रतिशत से कुछ अधिक है।

आठ करोड़ की आबादी। उत्तरप्रदेश की आबादी से कुल २५ प्रतिशत अधिक। और ११६ दैनिक!

ग्राहक-सख्या मे 'असही' का नम्बर प्रथम है—चालीस लाख ग्राहक प्रातःकाल के संस्करण के; और दस लाख ग्राहक सध्याकालीन संस्करण के। इसके बाद मेनिचि और योमियुटि का नम्बर है।

तोक्यो के दूसरे सामान्य दैनिको की ग्राहक-सख्या बीस हजार के आसपास है।

ओसाका मे सगयो केजे की ग्राहक-संख्या आठ लाख है और 'ओसाका' की सात लाख।

सामान्य समाचारपत्रो के अतिरिक्त एक कम्पो छपता है। वह जापान का सरकारी गजट है। उसमें केवल सरकारी सूचनाएँ ही छपती हैं। ग्राहक-सख्या एक लाख है।

जापानी पत्रकार-कला के बारे मे यह निश्चित कहा जा सकता है कि वह लगभग सभी बातो मे पाश्चात्य पत्रकार-कला और व्यवस्था से टक्कर ले सकती है। एक बहुत बडी विशेषता यह है कि तोक्यो तथा ओसाका के समाचारपत्र प्रत्येक जिले की स्थानीय खबरो को छाप-छापकर एक प्रकार से सारे देश पर छाए हुए हैं। उदाहरण के लिए तोक्यो का असही छोटे सैंतीस 'स्थानीय एडिशन' छापता है।

व्यापारिक पत्र की ओर देखे तो बडे पत्र प्रायः खूब फले-फूले हैं। पत्रों को अपने दिन काटने पड़ते हैं।

जैसे और दुनिया मे पत्रो की आय का प्रधान साधन विज्ञापन ही है; ग्राहकों से मिले चन्दों से उनका काम नहीं ही चलता वैसे ही जापान मे भी।

जापान की सबसे बड़ी तथा प्रभावशाली समाचार-एजेंसी का नाम है—क्योदो त्सुशिन-श। जापान के सभी बडे पत्र इससे सम्बन्धित हैं।

जापानियों के अपने दो अंग्रेजी अखबार भी हैं—(१) निप्पोन टाइम्स, (२) मेनिचि।

पत्रिकाओ का तो जापान मे ठिकाना ही नहीं। आप किसी पुस्तक-विक्रेता की दुकान मे घुस जाइए। देखकर आप हैरान हो जाएँगे कि जापानी को पत्रिकाओ के द्वारा कितना मानसिक भोजन प्राप्य है।

१९५१ मे भिन्न-भिन्न नामो की दो हजार चार सौ छत्तीस पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थी।

इन पत्रिकाओ मे, जो सर्वसाधारण के लिये हैं, स्त्रियो के लिये हैं, बच्चो के लिये हैं, उनकी ग्राहक-सख्या सबसे अधिक है।

एक पत्रिका की ग्राहक-सख्या दस लाख से अधिक है, जो स्त्रियो के लिये है। अपने 'भारत' को 'माया' और 'कल्याण'-सदृश पत्रिकाओ की ग्राहक-सख्या पर ही बड़ा अभिमान है।

---

[१५]

जापानी जीवन का क ख ग

जिस आदमी को कभी 'एकान्त-कारावास' अथवा 'कैदे-तनहाई' का जीवन व्यतीत करना नहीं पड़ा, वह जान ही नहीं सकता कि आदमी का बच्चा कितना अधिक सामाजिक है? और 'एकान्त-कारावास' वाले का सम्बन्ध भी तो समाज से बना ही रहता है।

ठीक बात यह है कि न केवल आज के, बल्कि किसी युग मे भी हम सर्वथा अकेले प्राणी की कल्पना नही कर सकते। आदमी—अकेला आदमी—समझ से परे की वस्तु है। आदमी को समझना हो तो उसको समाज के एक अश के रूप मे ही समझना होगा।

सभी आदमियो में—सभी जातियो के आदमियो में—जापानी सबसे अधिक दुर्बोध हैं। कुछ जातियाँ बच्चो की तरह खुली किताब हैं। कुछ जातियो को आप पुरानी भारी-भरकम पुस्तकें मान सकते हैं। किन्तु कुछ जातियों के लोग उस सन्ध्या-भाषा के समान हैं, जिसका ऊपरी अर्थ कुछ और भीतरी अर्थ कुछ।

एक सामान्य जापानी सन्ध्या-भाषा की किसी पुस्तक की तरह कभी सरलता से समझ में नहीं आता। वह मौन रहकर अपने-आपको

छिपाये रखने का प्रयत्न नहीं करता, वरन् खिलखिलाकर अपने आपको ढके रखने में सफल हो जाता है।

और, कोई भी दूसरी चीज एक जापानी की इस सामर्थ्य को इतनी अच्छी तरह व्यक्त नहीं करती, जितनी अच्छी तरह उसकी पोशाक। स्कूल का विद्यार्थी हो या स्कूल का मास्टर या आफिस का बाबू—सभी आपको सामान्य यूरोपीय पोशाक मे दिखाई देंगे। किन्तु यह पोशाक उनके जीवन के उस हिस्से से सम्बन्धित है, जो विशेष रूप से विदेशियों से सम्बन्धित है। अपने घर में जापानी अपने 'किमोनो' में ही सजता है, सुखी रहता है और मस्त रहता है।

आज से छः वर्ष पहले एक लेखक ने जापान में यूरोपीय वेष-भूषा के प्रचार के सम्बन्ध में लिखा था कि यद्यपि कागज की इतनी कमी है, तो भी यूरोपीय फैशन की कॉट-छॉट क सम्बन्ध मे तीस से ऊपर पुस्तकें होगी।

किन्तु हम तो यहॉ 'जापानी' पोशाक के सम्बन्ध मे लिखने जा रहे हैं। उसके कुछ प्रकार ये हैं—

हाओरि—यह एक प्रकार का चोगा होता है—घुटनों से भी थोड़ा नीचे तक। शीत ऋतु मे यह किसी भारी-भरकम कपड़े का बनाया जाता है और ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त हलके तथा पतले कपड़े का। सामान्य हाओरि पर चाहे कलगी हो चाहे न हो, किन्तु विशेष अवसरों पर जो हाओरि पहनी जाती है, उसपर कलगी अथवा परिवार-चिह्न होना ही चाहिये। ये परिवार-चिह्न तीन जगहों पर या पाँच जगहों पर हो सकते हैं। इस समय लगभग तीन सौ से अधिक परिवार-चिह्न काम में आ रहे हैं, और यदि

उनके नाना प्रकार के विभागों की गिनती की जाय तो उनकी सख्या तीन हजार से ऊपर होगी।

किमोनो—यह सामान्य जापानी वेष है—अपने यहाँ की बगल-बडी से मिलता-जुलता, किन्तु ढीला-ढाला। यह सभी कपड़ो के नीचे पहना जाता है, और सबी से ऊपर भी। सामान्य किमोनो तो होते ही हैं, कुछ विशेष अलकृत भी होते हैं जो किसी उत्सव के अवसर पर पहने जाते हैं।

ओबी–यह एक प्रकार का काय-बन्धन है जो किमोनो से जुड़ा रहता है। किमोनो मे काई बँटन अथवा तनियाँ नही होती। इसलिए बिना ओबी के किमोनो की कल्पना ही नहीं की जा सकती। स्त्रियो की ओबी कोई दो फुट चौड़ी होती है। उसे दोहरा लिया जाता है। उसकी लम्बाई ग्यारह फ़ुट होती है। उसे कमर के गिर्द दोहराया जाता है और पीछे की ओर गठियाया जाता है। पुरुषों की ओबी केवल चार इच चौड़ी और स्त्रियों की ओबी से छोटी होती है।

हकम—यह मोटे रेशम का एक वस्त्र है जो किमोनो के ऊपर पहना जाता है। लोग उसे प्रायः शादी-विवाह अथवा अन्य ऐसे ही महत्त्वपूर्ण अवसरों पर पहनते हैं।

जुबन अथवा हदगी—यह एक अन्तर वस्त्र है, जिसका उपयोग मर्द तथा स्त्रियाँ समान रूप से करते हैं। पुरुषों के जुबन में काले रेशम का एक ग्रीवा बन्धन रहता है और स्त्रियो के जुबन में किसी न-किसी चटकदार रंग का।

तवी—यह एक प्रकार के गिट्टों तक आनेवाले जुराब या मोजे होते हैं। स्त्रियों के 'तवी' प्रायः एकदम श्वेत रग के और पुरुषो के

तवी प्रायः नीले-काले रग के होते हैं। इनमें पैर के अँगूठे और बड़ी अँगुली के बीच चप्पल के फीते को धर लेने की गुञ्जायश रहती है। घर से बाहर जाते समय तवी पर चप्पल भी पहना जा सकता है। पीछे की ओर पीतल के छोटे-छोटे हुक लगे रहते हैं। उन्हीं से तवी पैर में एकदम फिट कसी रहती है।

हकिमोनो—गेता, सेत्ता, जोदो आदि जितनी भी पाँव मे पहनने की चीजे हैं, उन सबके लिये यह एक सामान्य नाम है ।

बिना टोपी या पगड़ी की चर्चा के वस्त्रों की चर्चा अधूरी है। पुराने समय मे जापानी अपने माथे को आगे से एकदम सफाचट करवा लेते थे और पीछे के बालो को बढने देते थे। फिर वे इन्हे कुछ दाक्षिणात्य ब्राह्मणों की तरह, किन्तु उनसे कुछ ऊपर की ओर—कुछ हमारे सिक्ख भाइयों की तरह -गठिया लेते थे। अब केवल पहलवानो ने ही उस प्रथा को कायम रखा है। शेष सबने यूरोपीय फैशन अपना लिया है। हाँ, स्त्रियों के बालो का जूड़ा उनके अविवाहित अथवा विवाहित होने के अनुसार दो तरह का होता है। अविवाहित स्त्रियों का जूड़ा 'शिमदा' कहलाता है और विवाहित स्त्रियो का जूड़ा 'मरूमगे'। किन्तु अब स्त्रियो मे भी कटे बालो का काफी प्रचार हो गया है।

पुराने समय में न स्त्रियाँ ही सिर पर कुछ पहनती थीं और न पुरुष ही, न घर के बाहर और न घर के भीतर। अपवाद थे किसान अथवा कुछ छोटे दर्जे के व्यापारी। वर्षा ऋतु में सम्पन्न जापानी बाँस के बने हुए भारी छाते काम में लाते थे और स्त्रियाँ धूप के समय कागज

की हल्की छतरियाँ। अब जापानी वस्त्रों पर भी पुरुष टोपी और हैट लगा लेते हैं। स्त्रियाँ हैट तभी लगाती हैं, जब पाश्चात्य वेश-भूषा में हो।

खाना-पीना

कहावत है कि 'कपड़ा पहनिये जग भाता और खाना खाइये मन भाता।' प्रायः सभी जातियाँ मन-भाता खाना ही खाती हैं। अथवा जो कुछ वे खाती हैं, उन्हे वह भाता है।

जापानियो का सामान्य भोजन अधिकाश भारतीयो के सामान्य भोजन के समान चावल ही है। भारत में भी अधिकाश लोग केवल शाकाहारी नहीं ही हैं। आधुनिकतम खोज के अनुसार शायद ग्यारह प्रतिशत से अधिक लोगों को शुद्ध शाकाहारी नहीं माना जा सकता। जब भारत का यह हाल है तब वहाँ तो बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त शायद और कोई भी शुद्ध शाकाहारी नहीं है। चावल के साथ उनका सहायक भोजन है—अण्डा, मास, मछली। सब्जियों में सिरके और चीनी का काफी प्रयोग होता है।

खाना आमतौर पर छोटी-छोटी चौकियो पर परसा जाता है। चीनी के एक बडे बरतन में चावल रहेगा, दूसरे में शोरबा रहेगा, तीसरी चीनी की तश्तरी में मछली या मांस होगा।

छुरी-काँटे का उपयोग पाश्चात्य ढग की मेज पर ही होता है। जापानियों का अपना छुरी-काँटा है—लकड़ी अथवा हाथी-दाँत की बनी हुई दो सलाइयाँ। उन सलाइयों की सहायता से भात कितनी शीघ्रता से भीतर सरकाया जा सकता है—यह देखने की ही वस्तु है।

अपने यहाँ के समोसों की तरह जापान की 'मोची' वहाँ का एक खास भोजन है। चावलो को अच्छी तरह भाप देकर उन्हे आटे की लोइयों में भर दिया जाता है। नव वर्षारम्भ पर 'मोची' भेट-स्वरूप दिया जानेवाला भोजन है, और बालक के जन्म पर प्रसन्नता व्यक्त करने-वाला भी।

चीनी के प्रवेश होने पर जापान में तरह-तरह की मिठाइयाँ बनने लगीं। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ मे लगभग चार सौ तरह की मिठाइयाँ बनती थीं। इधर उनकी सख्या मे काफी वृद्धि हुई है। जापानी भारतीयो के समान ही काफी मधुर-प्रिय प्रतीत होते हैं।

'प्याज' और वह भी 'चीनी' मे पगा हुआ, हमें जापान मे ही खाने को मिला।

बंगाल में तो 'पानी' भी खाया जाता है, किन्तु जापान मे जो चीजें पी जाती हैं, वे है—चाय, तम्बाकू तथा नशीले पेय। जापान मे चाय पीना तो होता ही है, किन्तु उसके साथ 'यज्ञ' शब्द के गम्भीरतम तथा पवित्र-तम अर्थों में 'चाय-यज्ञ' भी होता है। काफीका पीना तो एक सामान्य 'पेय' का मात्र स्वाद लेना है, किन्तु चाय-पान तो 'जीवन-कला का धर्म' है।

आरम्भ में तो चाय का उपयोग एक पेय पदार्थ के बजाय औषध के रूप मे होता था; किन्तु शनै-शनैः यह एक मामूली पेय-प्रक्रिया न रहकर पूरा 'चाय-यज्ञ' हो गया।

यज्ञ की वेदिका, उसके 'स्रुवा' आदि पात्रो, उसके 'होता' आदि याज्ञिकों की तरह 'चाय यज्ञ' में भी सब-कुछ निश्चित रहता है। यदि

जापानी 'अदब-आदाब' को अपनी पराकाष्ठा मे देखना हो तो जापान का यह 'चाय-यज्ञ' एक बार अवश्य देखना चाहिये।

जापानियो को तम्बाकू पीना सिखाने का श्रेय पुर्तगाल के लोगो को है। सोलहवीं शती से पहले जापान में कोई तम्बाकू से परिचित न था। किन्तु अब तो सिग्रेट और पाइप घर-घर हैं। भारत से भी काफी तम्बाकू जाता है। इधर अमरीका ही तम्बाकू-व्यापार का एकाधिकार हथिया लेना चाहता है।

पहाड़ी में—कॉगडा जिले की ओर—जैसे चावल से एक प्रकार का नशीला पेय पदार्थ तैयार किया जाता है—जो 'लुगड़ी' कहलाता है, जापान मे भी उससे मिलता-जुलता नशीला पेय वैसा ही-पदार्थ होता है—जो 'साके' कहलाता है। यह जापान का राष्ट्रीय पेय है।

घर-बार

जब हम किसी भी देश के 'घरो' की बात सोचते हैं, तब हमारा ध्यान मिट्टी, चूना, पत्थर, ईट. सीमेंट और लोहे की ओर जाता है। किन्तु बड़े-बडे शहरो के बडे-बड़े दफ्तरो तथा कारखानो को छोड़कर सारा जापान लकडी का ही बना है। छोटे-बडे घर, सभी बडे ही कला-पूर्ण। लकडी की चौखट, कागज की दीवारे, ताले-चाबी का नाम नहीं—यह है जापानी घर।

फर्शों पर ततमी अथवा चटाइयाँ जड़ी हुई। दो कमरो के बीच में लकड़ी और कागज की बनी हुई खिसकनेवाली दीवारे।

हमलोग घरो के फर्नीचर पर जबतक पालिश न कर लें तबतक उन्हे काम का नहीं समझते। जापान मे पालिश का उपयोग सबसे बड़ी

फजूलखर्ची समझा जाता है। लकड़ी को शीशे की तरह चिकना जरूर कर दिया जाता है। फिर वह है और उसका स्वाभाविक रग।

किसी भी अच्छे जापानी-घर के पिछवाडे मे आप एक छोटा-सा उद्यान देख सकते हैं, जिसमे नदियाँ होगी, पहाड़ होगे और जगल होगे। सभी कुछ आदमी के हाथ की यथासम्भव प्राकृतिक रचना।

गरीब आदमियो के घरो में भी आप एकाध बौना पेड़ अवश्य देखेगे जो कदाचित् पीढी दर पीढी चला आया है।

कभी जापानी घरो मे भी सरसो तथा नारियल के तेल-जैसा ही कोई तेल जलता था। अब तो मिट्टी का तेल आया है, गैस है और बिजली है। सुदूर गॉव मे भी बिजली पहुँच गई है। जापान भर मे ८८ प्रतिशत आदमी बिजली के लैम्पो के प्रकाश मे ही रहते हैं।

शादी-विवाह

इसमे सन्देह नही कि इधर प्रेम-विवाह कुछ बढती पर है, किन्तु अब भी सामान्य जापानी की यही धारणा है कि विवाह से प्रेम का आरम्भ होता है। विवाह उसका परिणाम नहीं है। अधिकाश विवाह उभय पक्ष के परिवारो के मित्रो द्वारा तै किये-कराये जाते हैं।

विवाह का अन्तिम निर्णय होने से पहले भाव वर-वधू को परस्पर मिलने का अवसर दिया जाता है। यदि यह सन्तोषजनक होता है तो 'वर' के माता-पिता सगाई की भेट भेजते हैं जो सामान्यतया मछली, 'साके' और 'ओबी' की होती है। विवाह के एक-दो दिन पहले 'वधू' का बिस्तर आदि सामान एक बक्स मे रखकर 'वर' के घर भेज दिया जाता

है। विवाह के दिन अपने माध्यम तथा उसकी पत्नी के साथ 'वधू' वर के घर जाती है। इस समय उसे 'वर' के लिये भेंट ले जानी होती है।

विवाह की घडी में उसे तुरन्त वहाँ ले जाया जाता है जहाँ भावी 'वर' उसकी प्रतीक्षा करता है। वहीं 'तीन-तीन-नौ' का सस्कार होता है। वर वधू दोनों को 'साके' के तीन-तीन प्यालो को तीन-तीन बार होंठ से थोड़ा छूना होता है, अथवा उनमे से जरा-जरा सा सिप करना होता है।

यही जापानी विवाह का गठबन्धन है।

आजकल शहरो में 'विवाह' क भोज से पहले किसी मन्दिर में भी विवाह सस्कार सम्पन्न हो जाता है।

अन्तिम संस्कार

किसी के प्राणान्त होते ही किसी बौद्ध-भिक्षु को सूत्रपाठ करने के लिये निमन्त्रित कर लिया जाता है। इसके बाद मुर्दे को स्नान कराकर मृत-पेटिका में लिटा दिया जाता है। कभी-कभी अपनी पति-परायणता व्यक्त करने के लिये स्त्री अपने सिर के कुछ बाल उस मृत-पेटिका मे रख देती है। मृत्यु के बाद कम-से-कम चौबीस घण्टे गुजर चुकने पर ही शरीर को जलाया या दफनाया जाता है। आधुनिक समय मे शरीर का अग्नि-संस्कार ही प्रायः सर्वप्रिय हो गया है।

श्मशान-यात्रा मे सगे-सम्बन्धी फूल तथा अन्य सुगन्धियाँ लेकर पीछे-पीछे जाते हैं। किन्तु बडे शहरों मे श्मशान-यात्रा प्रायः कम ही देखने मे आती है। अधिकतर मृत-पेटिका मोटर-कार मे रखी गई और ' मशान-भूमि में जा पहुँची।

श्मशान-भूमि मे अथवा मन्दिर मे जो धार्मिक संस्कार होता है, उसमे सूत्रपाठ की ही प्रधानता रहती है।

अन्त उस प्रार्थना से होता है जिसका आशय है कि 'मृत व्यक्ति सकुशल परलोक की यात्रा करे।'

प्रति सप्ताह पुरोहित को सूत्रपाठ के लिये बुलाया जाता है और यह क्रम सात सप्ताह तक चलता रहता है।

शिन्तो भक्तो का अन्तिम सस्कार भी कुछ-कुछ बौद्ध-सस्कार के समान ही होता है। अन्तर इतना ही होता है कि बौद्ध-सस्कार मे मछली-मास से 'पूजा' नहीं की जाती और शिन्तो मे मछली-मॉस का भी निषेध नहीं रहता।

धूपबत्ती की जगह कागज की लम्बी-लम्बी कतरने और एक पवित्र वृक्ष की शाखाये जलाई जाती हैं।

इकेलाना अथवा कुसुम-कला

जापानी जीवन की सबसे बड़ी विशेषता—और जापान की ही विशेषता—वहाँ की कुसुम-कला है। आज जापान मे पुष्पो को कला-पूर्ण ढग से सजाने के ही लगभग तीन सौ भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय होंगे जो मुख्य रूप से दो प्रधान प्रवृत्तियो मे विभक्त हैं—स्वाभाविक तथा औपचारिक।

हमे कुसुम-कला का एक छोटा-सा प्रदर्शन देखने का सौभाग्य हुआ। एक टब मे बहुत-सी फूलदार टहनियाँ और तरह-तरह की शाखाये लाई गईं।

हमने सोचा—यही देखने के लिये हम निमन्त्रित हैं!

किन्तु जब आचार्य ने किन्हीं दो टहनियों, दो फूलो और दो-दो पत्तों के शास्त्रीय सहयोग से कमाल करना शुरू किया तब हमारी समझ मे आया कि जैसे तैसे फूलो, पत्तियो और छोटी-छोटी टहनियो को इकट्ठा कर देने का नाम 'गुलदस्ता' बनाना नहीं है किन्तु वह एक कला है, उसी तरह कुसुम-कला भी का लएक है, जो जापानियो से ही सीखी सकती है।

कहा जाता है कि इस कुसुम-कला का विकास भारत मे भगवान् बुद्ध की पुष्पो से की जानेवाली अर्चना से ही हुआ है।

---

[१६]

यातायात के साधन

आदमी की स्मृति में भी अब यह संस्कार नही है कि कभी वह भी अन्य पशुओं की तरह दोनों हाथों तथा दोनों पाँवों अथवा चारो पावों के के बल चलता रहा होगा। जिस दिन आदमी के बच्चे ने अपने अगले दोनो पाँवों को दो हाथों का रूप दिया होगा और वह धीरे-धीरे तनकर खड़ा हो गया होगा, वह नृवश के इतिहास मे विकास का कितना बड़ा डग रहा होगा।

आदमी ने अपनी सभ्यता के क्रमिक विकास में इसी प्रकार के लम्बे-लम्बे डग भरे हैं और तभी वह आज विकास अथवा सभ्यता के मार्ग पर इतनी दूर चला आया है कि उसके पुरातन चरण-चिह्न अधिकाश में आँखों से ओझल हो गये हैं।

यातायात के साधनों का विकास

पुराने समय में जापान में यातायात के साधन विकास की प्रारम्भिक अवस्था में थे। धनी लोगो के लिए पालकियाँ थीं, सामान्य लोग या तो घोड़ो की पीठ पर चलते या टोकरी-पालकियाँ मे, जिनमें उन्हें पालथी मारकर बैठना पड़ता था।

यों बैल-गाड़ियाँ भी थीं, किन्तु ज्यादातर आदमी और सामान-दोनों ही आदमियों द्वारा ढोये जाते थे।

रिक्शे का आविष्कार

जब विदेशों से व्यापार सम्बन्ध बढा और विदेशी लोग जापान में आकर बसने भी लगे तब 'जिन-रिक्शा' का आविष्कार हुआ। पता नहीं, वह कौन 'ऋषि' था जिसने प्रथम 'जिन-रिक्शा' का आविष्कार किया! जापान मे 'जिन-रिक्शा' 'जिन रिकि' रह गया है और दूसरे देशो में पहुँचते-पहुँचते 'रिक्शा' बन गया है—मतलब है आदमी-जुते गाड़ी से। जापान से ही 'रिक्शा' सर्वत्र फैला है। निस्सन्देह अपने समय मे गमनागमन का यह एक अच्छा साधन सिद्ध हुआ है। किन्तु, अब रेल और ट्रेन-कार ही नहीं, बल्कि मोटर, बस और टैक्सियाँ भी बेचारे रिक्शावाले के पीछे पड़े हैं।

रिक्शावाले ने साइकलवाले से जो दोस्ती कर ली है और कई देशों में साइकल-रिक्शा का जो प्रचलन हो गया है उससे 'रिक्शा-वाले' की आयु कुछ अवश्य बढ़ गई है। किन्तु जापान में अब रिक्शावाले के दर्शन नही होते।

रेलें

जापान में रेल के प्रवेश के अभी सौ साल नहीं हुए हैं। १८७५ में सर्वप्रथम इसका प्रवेश हुआ। लेकिन इससे भी कोई बीस वर्ष पहले जब कॉमोडोर पेरी जापान आया था तब उसने योकोहामा में समुद्र-तट पर रेल का एक नमूना खड़ा करके लोगो के सम्मुख इस आधुनिक यातायात के साधन का प्रदर्शन किया था।

एक बार आरम्भ हो गया तो प्रगति स्वाभाविक थी। तोक्यो और कोबे के बीच की लाइन तथा दो-चार और लाइने तो आरम्भ से ही सरकारी हैं, किन्तु शेष दूसरी लाइनें निजी उद्योग का ही परिणाम हैं। १६०६ मे यह निर्णय हुआ कि सभी मुख्य रेलवे लाइनें सरकार के अधीन कर दी जायँ। इस निर्णय के परिणामस्वरूप सरकार ने सतरह रेलवे लाइने एक साथ खरीद लीं।

१६४६ मे सरकारी रेलो का फिर नया सगठन हुआ और 'जापानी राष्ट्रीय रेलें' नाम से एक सार्वजनिक सस्थान खड़ा हो गया। सभीजापानी रेलवे लाइने प्रायः केवल ३ फुट, छः इच चौड़ी हैं। सरकारी रेलवे लाइनों का जाल १२,३०३ मील फैला हुआ है। इनके अतिरिक्त कई प्राइवेट रेलवे लाइने भी ४,७२८ मील पर बिछी हुई हैं।

इन पक्तियों के लेखक को कई देशों की रेलो मे चढ़ने का मौका मिला है। सभी देशो की युद्धपूर्व-स्थिति और युद्धोत्तर-काल की स्थिति मे अन्तर होना स्वाभाविक है। किन्तु यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि जापान मे यात्रियो के आराम का ख्याल किसी भी दूसरे देश से कम नहीं रखा गया है।

प्लेट-फार्म पर जाने के लिये प्लेट-फार्म-टिकट, और किसी भी जगह जाने के लिये रेल-टिकट लेने की सामान्य व्यवस्था है। किन्तु थर्ड-क्लास की खिड़कियो पर जैसी रेल-पेल अपने यहाँ देखने को मिलती है, और बिना-टिकट यात्रा करनेवालो के साथ रेल के बाबुओं के जैसे अप्रिय व्यवहार अपने यहाँ देखने को मिलते हैं, वैसे दृश्य हमें जापान मे नहीं दिखाई दिये।

यहाँ तो अभी उस दिन गोहाटी के वायु-पत्तन पर एक आदमी बिना टिकट के हवाई-जहाज मे भी ढुका जा रहा था। जब उससे उसका टिकट माँगा गया तब उसने अपना कम्बल उतारकर बाबू के चरणों पर रख दिया—'मेरा यह कम्बल ले लीजिये। मुझे किसी तरह ल चलिये।'

हमें खेद है कि बेचारे की इस अपील का पाइलट के मन पर कुछ भी असर नहीं हुआ।

गाड़ियाँ प्रायः ठीक समय पर आती-जाती हैं। कभी तो जापानी रेलो की ख्याति थी कि वह घडी से भी अधिक समय की पाबन्द हैं। इतनी कम रेलो मे फर्स्ट-क्लास के डिब्बे रहते हैं कि काफी देर तक तो मैं समझता रहा कि जापान में फर्स्ट-क्लास होता ही नहीं। जापानी रेलो मे प्रायः दो ही दर्जे रहते हैं—दूसरा और तीसरा। ड्योढा दर्जा कदाचित् भारतीय रेलो की ही अनोखी सूझ है। कही-कही तो अपनी जनता एक्सप्रेस की तरह सारी रेलगाड़ी केवल तीसरे दर्जे की ही होती है।

लम्बे और ऊँचे दर्जे के यात्रियो के लिये सोने की गाड़ियाँ हैं और कुछ योरोपीय ढग की आधे पसरकर, आधे बैठे, आधे लेटे रहने की गाड़ियाँ हैं।

भारतीय यात्री को और विशेष रूप से यदि वह धूम्रपायी नहीं है तो उसे यह बहुत ही बुरा लगता है कि जापान मे न केवल रेलो मे, बल्कि घरों तक में खिड़कियाँ प्रायः बन्द ही रखनी पड़ती हैं। मुझे साँस लेने

क लिये अपनी पास की खिड़की बीच-बीच मे चोरी से जरा-सी ऊपर उठानी पड़ती थी, नहीं तो साथियो के टोक देने का खतरा बना रहता था।

जापान की शीघ्रतम दौड़नेवाली एक्स्प्रेस गाड़ी तोक्यो से ओसाका के बीच चलती है, जिसकी औसत चाल ४२ मील प्रति घटा से ज्यादा है।

जापान की रेलो मे स्त्रियों और पुरुषों के पृथक्-पृथक् डिब्बे नहीं होते। यह तो भारत की ही अपनी विशेषता है!

सामान्य एक्स्प्रेस ट्रेनों पर लाल बाजूबन्दवाले गार्ड रहते हैं, जो अंग्रेजी बोल लेते हैं, और जो विदेशी यात्रियो को हर तरह की जानकारी दे सकते हैं और यथासम्भव उनकी सहायता भी करते हैं।

गाड़ियों मे सफाई करनेवालों की तरह नीले बाजूबन्दवाले कुछ जापानी कर्मकर भी रहते हैं, जो कहने पर खाने-पीने की चीजे लाकर देने से गाड़ी की सफाई करने तक के सब काम कर देते हैं।

मुझे एक बार जुकाम हो गया। बहती नदी की रोक-थाम के लिये इतने रूमाल कहाॅ से लाता। मैंने एक स्टेशन से सौ-दो सौ कागज के रूमाल ले लिये। रात का समय था। जुकाम जोरों पर था। मै बीच-बीज में नाक साफ करता और पास की खिड़की ऊपर उठाकर मैले कागज के टुकड़ों को बाहर सरका देता। एक नीले बाजूबन्दवाला कर्मचारी थोडी देर देखता रहा। बाद मे उसने पास आकर धीरे से सकेत किया— 'आप यहीं पास रखते जाइये। हम बाद में उठाकर फेक देगे।'

मैं सचमुच थोड़ा झेप गया।

जापान में इन नीले बाजूबन्दवाले कर्मियो से भी मेरा अधिक ध्यान आकर्षित किया वहाँ के कुलियो ने। अपने यहाँ के अधिकाश स्टेशनों के कुछ कुलियों और भिखमगों में थोड़ा ही अन्तर दिखाई देता है।

पैर में जुराबे और जूता, ऊपर बिरजिस के ढंग का चुस्त पाजामा, कमीज, कोई गर्म कपड़ा और कोट, जेब मे एकाध पेंसिल और फाउण्टेनपेन —यह है जापानी-कुली।

आप उसे सामान सौंपकर शहर घूम आ सकते हैं। बता दीजिये कि आपको अमुक गाड़ी से जाना है। वह सामान-सहित आपको प्लेट-फार्म पर मिलेगा। ठहरने के कमरे में सामान ले जाना और फिर समय-समय पर प्लेटफार्म पर ले आना—यह सब उसका काम है।

ग्रीष्म ऋतु में अधिकाश गाड़ियों में बिजली के पंखे रहते हैं। सर्दी में भाप अथवा बिजली से गाडियो के गर्म रखने की व्यवस्था होती है।

मुझे जापानी रेलों के किराये की व्यवस्था भी अपने यहाँ की व्यवस्था से कुछ अधिक सुविधाजनक लगी। आपको चाहे १० मील जाना हो और चाहे एक हजार मील—वही ५ पाई से लेकर २७ पाई प्रति मील का हिसाब है। जापान मे तीसरे दर्जे के यात्रियों के लिये एक किलोमीटर (१०० किलोमीटर = ६२ मील) से डेढ़ सौ किलोमीटर तक की यात्रा करनेवालो के लिए १·८५ येन—प्रति किलोमीटर का एक रेट। १५१ किलोमीटर से ५०० किलोमीटर तक की यात्रा करनेवालो के लिये १·३० येन प्रति किलोमीटर का दूसरा रेट। ५०१ किलोमीटर से १००० किलोमीटर तक की यात्रा करनेवालो के लिये ७० येन प्रति किलोमीटर का तीसरा रेट और इससे भी अधिक लम्बी यात्रा करनेवालों
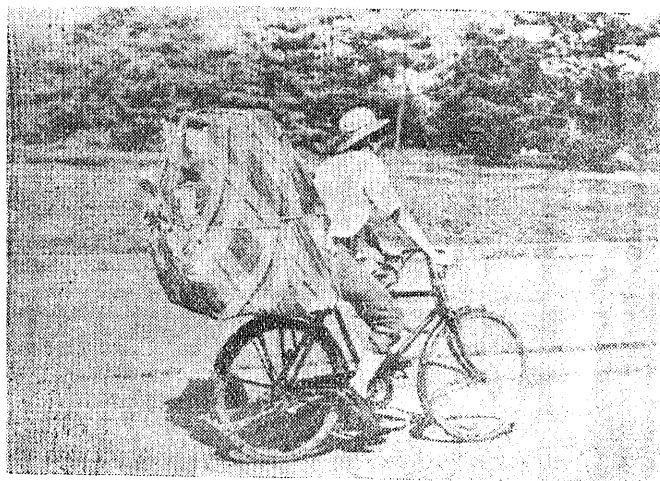
सामान ढोनेवाले बाइसिकल का पूरा उपयोग करते हैं। (१६२-६३)

क लिये ०·४५ येन प्रति किलोमीटर का चौथा रेट। सिद्धान्त यही है कि लम्बी यात्रा करनेवाले को भरसक किराये में सुविधा दी जाय।

दूसरे दर्जे का किराया तीसरे से दुगुना और पहल दर्जे का चौगुना है। भारत में ड्योढा दर्जा बीच में कुछ ऐसा टेढा पड़ता है कि दूसरे दर्जे का किराया तीसरे से तीन गुना से भी अधिक और पहले का तो लगभग छः गुना हो जाता है।

भारत-जैसे देश मे 'फर्स्ट-क्लास' शरारत-भरी ऐयाशी का ही प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है।

यहाँ प्रत्येक बालिग पुरुष के साथ छः वर्ष से कम की आयु का एक बच्चा मुफ्त यात्रा कर सकता है। यह नहीं कि 'बच्चे' हों, फिर चाहे जितने भी हों। बारह वर्ष तक की आयु के बच्चों का भारत की ही तरह आधा टिकट लगता है। स्पेशल गाड़ियों के नाना तरह के स्पेशल-टिकट हैं।

यह कहना अनावश्यक है कि सभी टिकटों पर केवल जापानी भाषा ही छपी रहती है। टिकट खरीदने के स्टेशनों पर ही प्रायः वे छिद जाते हैं। इसके बाद भी गार्ड उन्हे देख सकते हैं, किन्तु उनके चेक करने के अवसर बहुत कम आते हैं। लगता है, बिना-टिकट की यात्रा जापानी राष्ट्रीय रेलों के लिए कोई समस्या ही नहीं है।

ट्राम और टैक्सी

रेल-गाड़ियों के बाद विजली से चलनेवाली ट्राम-गाडियाँ आती हैं। यद्यपि इनका श्रीगणेश रेलो के बाद हुआ, तथापि इन्होंने बड़ी प्रगति की है। आज कुछ जिलो में आप एक सिरे से दूसरे तक केवल ट्राम-गाड़ियों से यात्रा कर सकते हैं। ट्राम-गाड़ियो ने जापानी शहरों के

नवनिर्माण को बहुत प्रभावित किया है। ट्राम-युग से पहले जापान के अधिकाश शहर तग थे और उनमे पार्श्व-पथ न थे। ट्राम-गाडियाँ चालू हुई तो बाजार चौड़े करने पडे। एक प्रकार से कई नगरो का तो पुनर्निर्माण ही हो गया और ओसाका का सबसे अधिक। किराया कम है और प्रायः एक ही दर्जा रहता है।

कुछ पर्वत-स्थित मन्दिरो मे जाने के लिये तारो पर लटककर चलनेवाली गाड़ियाँ हैं, जिनमें बैठकर यात्रा करने से हल्का रोमाच हो जाता है। तोक्यो और ओसाका में भूमिगत रेलें भी हैं।

बड़े शहर की बात जाने दे तो जापान की सड़कों की हालत बहुत अच्छी नहीं है। शहरों में कहीं भी किराये पर टैक्सी मिल जाती है। अनेक शहरों मे टैक्सीवाले को बुलाइयेगा तो आप देखियेगा कि टैक्सीवाला जहाँ से चलता है, वहीं से अपना मीटर चालू कर देता है। जापानी टैक्सीवाले को मैंने ऐसा करते नहीं देखा। वह आपके गाड़ी मे बैठने पर ही अपना मीटर चालू करता है।

अन्य साधन

रेल और मोटर से बढकर गमनागमन का साधन है—द्विचक्री अर्थात् बाइसिकिल। जापान मे शायद ही कोई होगा जिसके पास एक बाइसिकिल न हो। सामान ढोनेवाले बाइसिकिल का वैसा ही उपयोग करते हैं, जैसे दिल्ली के बाहर से दिल्ली में दूध बेचनेवाले।

जापान के एक बदर से दूसरे बदर तक जाने के लिये आप केवल जापानी जहाजों में ही जा सकते हैं। विदेशी लाइनों के लिये जापान का तट बद है।

जापानी कानून के अनुसार इस बैलगाड़ी का मालिक स्वयं बैलगाड़ी पर नहीं बैठ सकता। (पृ० १६४-१६५)

प्रसिद्ध नगरों से दूसरे नगरो की यात्रा आप चाहे तो वायुयान से भी कर सकते हैं।

डाक-तार

आधुनिक युग मे जहाँ आदमी स्वय नहीं जा सकता वहाँ डाक और तार का उपयोग करता ही है। जापानी पोस्ट-आफिसो मे मैंने पत्थर की मेजे देखी, टिकट चिपकाने के लिये पानी और गोद देखा, लिखने के लिये कलम और स्याही देखी—सब डाकखाने की ओर से। अपने ग्राहकों को ऐसी सामान्य सुविधा पहुँचाने से कोई भी व्यापार फलता-फूलता है।

जापानी भाषा के 'कन' वर्ण मे आप किसी भी तार-आफिस से तार दे सकते हैं, किन्तु रोमन अक्षर से तार भेजने के लिए आपको बडे शहरो के मुख्य आफिस मे ही जाना होगा।

टेलीफोन और बेतार के टेलीफोन से जापान ससार के सभी सभ्य देशो के साथ सम्बद्ध है।

सरकारी आकाशवाणी के अतिरिक्त जापान मे १५ प्राइवेट कपनियाँ ऐसी हैं, जो रेडियो-प्रसार के व्यापार मे लगी हैं। कुछ आश्चर्य नही कि जापान के प्रत्येक दो घरों मे से एक-न-एक मे रेडियो-यन्त्र अवश्य है।

जापानी भाषा और चित्रलिपि

जापानी भाषा जितनी कठिन प्रतीत होती है, उतनी नहीं है। यह एक ऐसे आदमी की सम्मति है जिसे जापानी के क, ख, ग, का ही परिचय है।

जापानी किस प्रकार की भाषा है—यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। ऐसे भी विद्वान् हैं, जो इसे आर्य-परिवार की भाषा मानते हैं।

जापानी भाषा के दो रूप हैं, एक दूसरे से सर्वथा पृथक् और सर्वथा भिन्न—लिखा जानेवाला रूप और बोला जानेवाला रूप।

प्राचीन समय मे जापान के लोग चीनी-भाषा को ही लिखने के काम में लाते थे, जैसे इगलैण्ड के लोग लातीनी भाषा को। आगे चलकर जापानियो ने कन-पद्धति का आविष्कार कर लिया। यह कुछ-कुछ वर्णों की ही तरह है। प्रत्येक चिह्न एक-एक शब्द-खण्ड का प्रतिनिधित्व करता है।

हजारों चीनी चित्र-लेखों में से १६४६ में शिक्षण-मंत्रालय ने १८५० ऐसे चित्र-लेख चुने, जिनका ज्ञान दैनिक काम-काज चलाने के लिए अनिवार्य है। आगे चलकर इनकी सख्या बहुत घटा दी गई। इस समय

६ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा में जिन चित्र-लेखों को हस्तगत कर लेना होता है, उनकी कुल सख्या है ८८१।

स्कूल के वे विद्यार्थी, जिन्हे आजतक अपना अधिकाश समय 'क्या लिखने ?' की बजाय 'कैसे लिखने !' में व्यतीत करना पड़ा है; वे भविष्य में इस शिक्षण-भार से मुक्त रहेंगे।

जापानी भाषा की वर्णमाला को हम इस प्रकार पढेंगे—

अ	इ	उ	ए	ओ
क	कि	कु	के	को
स	शि (सि)	सु	से	सो
त	छि (ति)	त्सु (तु)	ते	तो
न	नि	नु	ने	नो
ह	हि	फु (हु)	हे	हो
म	मि	मु	मे	मो
य		यु	ए	यो
र	रि	रु	रे	रो
व	इ	उ	ए ओ	(वो)
ङ				

इसमे इ, उ आदि उच्चारण एक से अधिक बार आये हैं, जैसे उर्दू में सीन, स्वाद, से, आदि के उच्चारण। कुछ उच्चारण और हैं—

ग	गि	गु	गे	गो
ज	जि	जु	जे	जो
द	जि	जु	दे	दो

ब	बि	बु	बे	बो
प	पि	पु	पे	पो

कन-पद्धति के दो विभाग हैं—एक कत-कन और दूसरा, हीर-कन।

ऊपर की वर्णमाला कत-कन की वर्णमाला है। हीर-कन की वर्णमाला भिन्न प्रकार से लिखी जाती है। उसका एक लोकप्रिय और प्रचलित प्रकार यह है—

इ	रो	ह	नि	हो	हे	तो
छि	रि	ु		ओ	व	क
यो	त	रे	सो	त्सु	ने	न
र	मु	उ	इ	नो	ओ	कु
य	म	के	फु	को	ए	ते
अ	स	कि	यु	मे	मि	शि
ए	हि	मो	से	सु	त	

जिस प्रकार अलिफ, बे, जीम, दाल से आरम्भ होनेवाला क्रम 'अबजद' कहलाता है, उसी प्रकार वर्णों अथवा शब्द-खण्डों को लिखने का यह क्रम 'इ–रो–ह' के नाम से सर्वविदित है। कहा जाता है कि इन वर्णों को इस क्रम से लिखने का आविष्कार नवी शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध महात्मा कोबे-देशी ने किया था। इस क्रम की विशेषता यह है कि इसमें कोई एक वर्ण दो बार नहीं आता और दूसरी, इससे बड़ी विशेषता यह है कि इस क्रम से रखे हुए ये सारे वर्ण एक साथ पढ़े जाने से सुन्दर बौद्ध-विचार-प्रधान पद्य बन जाते हैं। पद्य का भाव कुछ इस प्रकार होगा—

पूर्ण 望 मोचि

चन्द्र 月 जुकि

धर्म 教 क्यो

अभिवृद्धि 栄 ए

जापानी लिपि का नमूना (पृ० १६८–६६)

"इस ससार में सभी कुछ अनित्य है। मैं इसकी माया और भ्रम से मुक्त हो जाऊँ।"

खेद है कि जापानी टाइप के अभाव मे हम कत-कन तथा हीर-कन अक्षरो अथवा शब्द-खण्डो के रूप यहाँ नही दे सकते। जापानी मे कुछ सयुक्त उच्चारण भी है।

क्य	क्यु	क्यो
श	श्यु	शो
छ	छु (त्यु)	छो
व्य	व्यु	व्यो
ह्य	यु	ह्यो
म्य	म्यु	म्यो
र्य	र्यु	र्यो

इन सयुक्त उच्चारणो को और इनके सभी सम्भव रूपो को जब दो-दो बार आनेवाले उच्चारणो के साथ मिलाकर गिनती की जाती है, तव कुल गिनती १०६ हो जाती है। इसका मतलब है कि जापानी वर्णमाला मे १०६ उच्चारण हैं।

कत-कन पद्धति के आविष्कार का श्रेय आठवी शताब्दी के कवि नो-मकिबि को दिया जाता है। यह असम्भव नहीं है कि उस समय सस्कृत वर्णमाला का अध्ययन प्रचलित होने से यह विचार उसी को सूझा हो।

कोई जापानी पुस्तक केवल 'कत-कन' मे नहीं लिखी जाती और वहुत ही थोड़ी केवल 'हीर-कन' मे लिखी जाती हैं। लगभग सभी पुस्तको

में चीनी चित्र-लेख तथा एक या दूसरी तरह के कन रहते हैं।

लिखने मे जापानी भाषा कुछ कठिन भी हो (और है); किन्तु बोलने मे काफी सुकर प्रतीत होती है।

जापानी शब्दों का क्रम किसी भी वाक्य में हिन्दी शब्दो के क्रम के अनुरूप ही रहता है। उदाहरण के लिए—

वत्कुशी-व	निप्पोन-जिन	देसु
मैं	जापानी	हूँ

अब इसी वाक्य को यदि प्रश्नवाचक बनाना हो तो आप वाक्य के अन्त मे का (क्या) और जोड़ दीजिये। यही वाक्य हो जायगा—

वत्कुशी-व	निप्पोन-जिन	देसु का ?
मैं	जापानी	हूँ क्या ?

जापानी वाक्यों का क्रम सामान्यतया सदा यही रहता है—कर्ता, कर्म और तब क्रिया। हिन्दी के जानकारो के लिए यह कितनी बड़ी सुविधा है!

जापानी भाषा में एकवचन और बहुवचन का झगड़ा नहीं है। मुसुको का अर्थ पुत्र (एकवचन) भी हो सकता है और पुत्र (बहुवचन) भी, उसी प्रकार मुसुमे का अर्थ लड़की भी और लड़कियाँ भी।

हाँ, कभी-कभी बहुवचन का बोध कराने के लिए अन्त में र. तची अथवा दोमो जोड़ दिये जा सकते हैं, मुसुको-र का भी मतलब है पुत्र (बहुवचन) और मुसुको-दोमो का भी मतलब है पुत्र (बहुवचन)।

प्रायः सगति से ही अनेकार्थ का बोध करना होता है। हाँ, सर्वनाम में बहुवचन स्पष्ट कर दिया जाता है—

वत्कुशी—मैं, अनत—तू, वत्कुशी-दोमो—हम,
अनत-गत—तुम अनोहितो—वह अनोहितो, तची—वे।

जापानी क्रियाएँ न केवल एकवचन तथा बहुबचन के ही बन्धन से मुक्त हैं, किन्तु वे प्रथम-पुरुष, मध्यम-पुरुष तथा उत्तम-पुरुष के झगडे से भी परे हैं। हूँ, है, और हैं—सबके लिये एक ही शब्द है मसु अथवा देसु।

जापानी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है—उसमे अभिवादन-बहुलता और शिष्ट-शब्दावली की प्रचुरता।

ओहायो गोजाइमसु—सुप्रभातम्। इकग देसू का—कैसे हैं ? अरिगतो गोजाइमसु—धन्यवाद। गेन की देसु—अच्छी तरह हूँ। सायोनारा—विदा।

सायोनार का शब्दार्थ है 'यदि'। मतलब 'यदि, विदा होना है, तो हम विदा हों।'

मता ओइदे कुदासि—फिर आये कृपया।

कर्त्त-वाच्य से कर्मवाच्य बनाने की पद्धति भी बड़ी सरल है। क्रिया चाहे सकर्मक हो अथवा अकर्मक, आप उसके साथ 'अरे' अथवा 'ररे' जोड़ दीजिये, वाक्य कर्तृ-वाच्य हो जायेंगे—

कोनो हीन—व योकु योमरे मसु—यह पुस्तक अच्छी तरह पढी जाती है। नेजुमिग नेको नि तबे ररे मंशित—चूहा बिल्ली द्वारा खाया गया।

इसी प्रकार यदि किसी के द्वारा किसी क्रिया के किये जाने का बोध कराना हो तो क्रिया के साथ 'असे' अथवा 'ससे' जोड़ दीजिए।

ने जुमि ओ नेको नि तबे-ससे मसु ।
चूहा बिल्ली द्वारा खिलवाया गया ।

जापानी शब्दो के अन्त में हम प्रायः 'व' अथवा 'ओ' पाते हैं। 'व' से मतवल होता है कि 'वान्त' शब्द कर्ता है और 'ओ' से मतलव है कि जिस शब्द के अन्त मे 'ओ' आया है, वह कर्म है।

जापानी भाषा इस सम्बन्ध मे इतनी नियमित है कि सभी सज्ञाओ तथा सर्वनामो के पीछे ऐसे निपात आते ही हैं, और इनका कोई अपवाद नहीं।

इसलिए जापानी मे 'मैं, मुझे' और 'वह, उसे'-जैसे रूप होते ही नही।

जापानी भाषा की सबसे बडी विशेषता है—उसमे शिष्ट शब्दावली तथा सम्मान-सूचक शब्दो की वहुलता। सवसे अधिक प्रयोग मे आनेवाला सम्मानसूचक शब्द है 'ओ' या 'गो'। यह किसी भी सज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण अथवा अन्य किसी भी शब्द के साथ लग सकता है।

पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियॉ इस शिष्टता-बहुल उपसर्ग-प्रधान भाषा का बहुत उपयोग करती हैं। ऐसा लगता है कि पुरुषो की भाषा दूसरी है और स्त्रियो की दूसरी।

'सा' शब्द का व्यवहार आप, श्रीमान्, श्रीमती तथा कुमारी के लिए समान रूप से कर सकते है। हॉ, आप स्वयं अपने लिए नही कर सकते।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बलि-नगर

जापान के जो दो नगर एक दिन देखते-देखते जगत्प्रसिद्ध हो गये; जिन दो नगरों के बलि चढ जाने से ही द्वितीय विश्वयुद्ध पर एक पूर्ण-विराम का चिह्न लग सका वे। नगर हैं—हिरोशिमा तथा नागासाकी।

१८५४ में मेरी-तेकमोतो नामक एक शासक ने 'हिरो-शिम-जो' नामक किला बनवाया था, जिसका शब्दार्थ हुआ 'विस्तृत द्वीप-किला'। शनैः-शनैः यह नाम उस सारे स्थान के लिये रूढ हो गया। १८५४—१८९५ में चीन-जापान का युद्ध हुआ तो उस समय हिरोशिमा ही एक प्रकार से राजधानी था। उस समय हिरोशिमा में जलमार्ग और स्थलमार्ग से आवागमन की भरमार थी और यही सभी तरह के सैनिक काम का केन्द्र था। उस समय हिरोशिमा का विस्तार बहुत बढ़ गया। सरकारी दफ्तरों के अतिरिक्त-बहुत से स्कूल और कारखाने शहर के इर्द-गिर्द बन गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले हिरोशिमा जापान का सातवाँ सबसे बड़ा नगर था। उस समय इसकी जनसख्या चार लाख थी। ६ अगस्त,

१९४५ को इस नगर पर अणु-बम के आघात से दो मील के घेरे में सभी कुछ वीरान हो गया। विपत्ति के चार महीने बाद ३० नवम्बर, १९४५ की जो पुलिस डिपार्टमेंट की रिपोर्ट छापी गई, उसके अनुसार विवरण इस प्रकार है।

मृत	७८,१५०,
लापता	१३,९८३
आहत	३७,४२५
कुल	१,२९,५५८

अणुबम का प्रहार होने से ठीक पहले हिरोशिमा की जो जन-सख्या थी, उसका ३६ प्रतिशत तो निश्चयात्मक रूप से विनाशाभिमुख हुआ।

अणुबम ने ६,०४० भवनों अथवा घरों को सर्वथा धराशायी कर दिया था।

विश्व-बौद्ध-सम्मेलन के आयोजकों ने तोक्यो और क्योतो के बाद हिरोशिमा में भी जो एक दिन का अधिवेशन करना तय किया, वह हर दृष्टि से योग्य ही था। कोई भी बौद्ध, कोई भी शान्ति-प्रेमी हिरोशिमा को भूल ही कैसे सकता था। उस कान्फ्रेंस में इन पक्तियों के लेखक ने अपनी मनोभावना को यह कहकर व्यक्त किया—

"कोई समझता है कि 'हिरोशिमा' जापान की हार का प्रतीक है, कोई समझता है कि 'हिरोशिमा' जापान पर अमरीका अथवा मित्रसेनाओं की विजय का प्रतीक है। यह यदि किसी भी चीज का वास्तविक प्रतीक है तो 'मानवता' पर 'दानवता की विजय का प्रतीक है।'

युद्ध मे नृशसता होती ही है। मानवों के कसाईखाने का ही तो दूसरा नाम 'युद्ध' है। किन्तु जाति-की-जाति को आतकित करने के लिए, युद्ध मे सीधा भाग न लेनेवाले असैनिक नागरिकों के नगर के-नगर को ध्वस कर डालने से तो एक बार 'मानवता' ही नहीं, 'दानवता' भी कॉप उठती है।

अणु-बम का आघात हुआ, तो जन-प्रवाद था कि अब ७५ वर्ष तक यह प्रदेश सर्वथा 'वीरान' रहेगा। हरियाली का नाम तक नहीं दिखाई देगा। किन्तु, प्रकृति का शैव पक्ष जितना प्रबल है, ब्रह्मपक्ष भी उससे कम प्रबल नहीं। विध्वस और निर्माण—दोनों समान रूप से होते चल आये हैं। कुछ महीने ही बीतने पाये थे कि 'हिरोशिमा' मे नई-नई कोंपलें फूट आई।

नव-निर्माण का रूप

नगर मे जो लोग बच गये थे, उन्होने हिम्मत के साथ नगर के नव-निर्माण का काम जारी कर दिया। जो लोग भागकर आसपास के स्थानों में शरणार्थी हो गये थे वे वापिस चले आये। जनसख्या फिर उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। अगस्त १९४६ मे १,८८,११९, से अक्तूबर १९५० होते-होते ३,८५७, ०२ हो गई।

इस आकस्मिक आपत्ति के ठीक एक वर्ष बाद हिरोशिमा के नागरिको ने अपना प्रथम वार्षिक महोत्सव मनाया। कार्यक्रम मे शान्ति-स्तम्भ का उद्घाटन था, मेयर द्वारा 'शांति-घोषणा' का पाठ था, नागरिको द्वारा शांति-गीत का गायन था और आहत माता-पिता की अनाथ सन्तानो का जलूस था।

इस अवसर पर जनरल मैकआर्थर के एक प्रतिनिधि ने भी अपना सदेश भेजा था।

अब शान्ति-उत्सव हिरोशिमा का सबसे बडा वार्षिक उत्सव है। पहले वर्षो मे हिरोशिमा के नागरिक अपने नगर को नये सिरे से बसाने के लिये और उसे एक सच्चे शान्ति नगर का रूप देने के लिए अथक परिश्रम करते रहे हैं। उन्होने अपने नवनिर्मित-नगर मे 'शान्ति-उद्यान' बनाये हैं और 'शाति भवन' बनाये हैं।

अनाथ बच्चो की व्यवस्था

हम अणुबम से आहत हुए माता-पिताओ के बच्चो का अनाथालय देखने गये। कई देशो के बच्चे थे। सामान्य रूप से अच्छे भरे-पूरे।

अपने यहाँ अनाथालयों के व्यवस्थापक बच्चों के प्रायः अत्यन्त प्रदर्शन करने के पक्षपाती हैं। कदाचित् उनका वही रूप चन्दा माँगने मे सहायक हो सकता है। वे भूल जाते हैं कि किसी भी देश के अनाथ बच्चे समस्त जाति के बच्चे होते हैं और उनका लालन-पालन अन्य बच्चों से भी विशेष होना चाहिए।

अनाथालयो पर उन्हे 'आदमी' बनाने की जिम्मेदारी होती है, 'भिखमँगे' नहीं।

अपने देश मे मैं किसी बालक का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही मानता हूँ कि उसका बचपन किसी 'अनाथालय' मे व्यतीत हो।

मुझे अपने जर्मन मित्र डा० कलार का यह सकल्प बहुत ही प्रिय लगा कि वह विश्व-बौद्ध-सम्मेलन से वापस तेहरान जाते समय, एक जापानी अनाथ बच्ची को अपने साथ ले जाकर पालन करेंगे। डाक्टर

कलार के समान और सज्जन भी आगे आवे तो जापान का बड़ा उपकार हो। हिरोशिमा की तरह नागासाकी भी जापान का महत्त्वपूर्ण नगर है। वह भी हिरोशिमा की तरह एटम बम द्वारा ध्वंस हो गया। किन्तु वह आज फिर जापानियों द्वारा पूर्ण-रूप में पहुँच चुका है।

चार मेले

नागासाकी अपने चार मेलों के लिए जापान भर में प्रसिद्ध है। ये मेले विदेशी यात्रियो के लिए भी आकर्षण की वस्तु हैं।

श्व-मन्दिरोत्सव—यह मेला अक्तूबर महीने में तीन दिन तक लगातार रहता है और जापान भर में एक विशिष्ट धार्मिक मेला मान जाता है। तीनो दिन नगर जुलूसो से भरा रहता है। घर सजे रहते हैं। दूकाने लगी रहती हैं। आसपास से लोगो के झुण्ड-के-झुण्ड मेला देखने और अपना मनोरजन करने के लिए आते रहते हैं।

बान-मात्सुरी अथवा मृतात्माओ का मेला—विदेशी लोग इसे 'प्रदीपो का मेला' कहते हैं। १३ जुलाई से १५ जुलाई तक अन्य सभी स्थानो की अपेक्षा 'नागासाकी' में विशेष उत्साह और सौंदर्य के साथ मनाया जाता है। विश्वास किया जाता है कि इन दिनो प्रेतात्माएँ अपने घरवालो से मिलने-जुलने आती हैं। सभी समाधियो पर प्रदीप जलाये जाते हैं। तीसरे दिन छोटी-छोटी कागजी नौकाओं मे प्रदीप और कुछ खाद्यपदार्थ रख दिये जाते हैं और उन नौकाओ को समुद्र मे बहा दिया जाता है।

प्रेतात्माएँ इन नौकाओ में बैठकर अपने-अपने लोक को चली जाती हैं।

पीरान—जून के आरम्भ मे रविवार के दिन किश्तियों का दगल होता है। ये किश्तियाँ कुछ अनोखे ढंग की होती हैं—लम्बी, तग और बहुत ही कम गहरी। एक-एक किश्ती मे तीस-तीस, चालीस-चालीस मल्लाह एक-साथ बैठते है और बारह-बारह किश्तियों की एक-साथ दौड़ होती है। बहुत सुवाहना लगता है। पहले आसपास के गाँवो के मछुए ही किश्तियों की इस दौड़ में भाग लेते थे। अब नगर के तरुण भी इसमे बड़ी दिलचस्पी लेने लग गए हैं।

हत-अग अथवा पतगो की उड़ान का मेला—जिस प्रकार पजाब के गाँवो और शहरो में भी वसन्त के दिन विशेष रूप से पतगे उड़ाई जाती हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अप्रैल महीने मे तीसरी तारीख से लेकर अठारहवीं तारीख तक छः भिन्न-भिन्न तारीखो पर पतगबाजी होती है—वैसी ही पतगे, माँझी हुई डोरी।

यदि किसी खेल को खेलता हुआ आदमी, जमीन पर रहता हुआ भी आकाश में रहता है, तो वह पतगबाजी ही है।

दर्शनीय स्थान

नगर की उत्तरपूर्व पहाड़ी पर सुव-उद्यान में नागासाकी पुस्तकालय है, जहाँ इस बन्दरगाह के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी अमूल्य पुस्तके तथा कागज-पत्र हैं। वहीं तीन शिला-पट्ट भी हैं, जिनमें उन तीन विदेशी विद्वानों का कृतज्ञतापूर्ण ढग से स्मरण किया गया है, जिन्होंने जापान में चिकित्सा-शास्त्र तथा वनस्पति-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को प्रोत्साहन दिया था। एक थे जर्मन विद्वान एगेल ब्रैंरएड केम्फेर (मृत्यु १७१६),

दूसरे स्वीडन विद्वान कार्ल पीटर कुन-वर्ग (मृत्यु १८२८) और तीसरे डेनमार्क के एक चिकित्सक फान सीबोल्ट (मृत्यु १८६६)।

नगर मे कई दर्शनीय मन्दिर भी हैं। कोई अपनी चीनी ढंग की शिल्प-कला के लिए प्रसिद्ध है, कोई अपनी उत्कीर्ण कला के लिए। एक मन्दिर में एक बड़ा भारी देग है, जिसमें बहुत-सा चावल एक-साथ पकता है। कहा जाता है कि १६८२ मे अकाल के समय अकाल-पीड़ितो को इसी बडे भारी देग में चावल पका-पकाकर खिलायो जाता था।

कोदेजी मन्दिर की सीमा मे आप एक विशाल बुद्ध-मूर्त्ति के दर्शन कर सकते हैं।

बाह्य जगत् के लिए हिरोशिमा तथा नागसाकी—दोनो ही प्रधान रूप से मानवता के विकास के इतिहास मे मानव की आत्म-हन्या कर लेने की असीम सामर्थ्य के द्योतक बनकर खडे हो गये है।

सारे शान्ति-प्रिय जगत् की कामना है कि अब फिर कहीं भी, कोई भी नगर हिरोशिमा तथा नागासाकी न हो।

जापान के औद्योगिक केन्द्र

जिस प्रकार तोक्यो जापान की राजधानी है और क्योतो जापान की सांस्कृतिक राजधानी मानी जाती है उसी प्रकार ओसाका तथा कोबे जापान के दो सबसे बड़े औद्योगिक केन्द्र हैं।

जिन दिनो तोक्यो में रहा मैंने भारतीयों के बारे मे कुछ पूछ-ताछ की। यही पता लगा कि "तोक्यो मे तो सब मिलाकर लगभग एक दर्जन भारतीय-परिवार होगे, किन्तु ओसाका तथा कोबे में कुछ अधिक हैं।"

ओसाका

योदो नदी ओसाका नाम की खाड़ी में गिरती है और वही—उसी के दहाने पर बसा हुआ है; कुछ-कुछ वैसे ही, जैसे कलकत्ता हुगली के दहाने पर। उस नदी से निकली हुई नहरों का ओसाका मे ऐसा जाल बिछा हुआ है कि इसे जापान का 'बेनिस' तक कहा गया है।

पिछले पचास वर्षों मे ओसाका ने लगातार प्रगति की है। इस समय ओसाका की जनसख्या १६,५६,१३६ है और यह जापान का

द्वितीय महान नगर है। फैक्टरियो की चिमनियों की भरमार और सड़को पर बे-हिसाब आवागमन को देखकर आपको ऐसा लगेगा ही नहीं कि आप एशिया के किसी नगर मे हैं।

जिस स्थान पर ओसाका स्थित है, उस भूमि का पुराना नाम है— ननिवा (शीघ्रगामी बीचि)। इस नाम का कारण स्पष्ट है। लहरों की तेजी के कारण पुराने समय मे नाविकों को विशेष कठिनाई होती होगी। 'काव्य' मे यह नाम अब भी जीवित है। ऐसा लगता है कि जापानी इतिहास के उषा-काल मे ही यह स्थान किसी बडे नगर के उपयुक्त समझ लिया गया था। साम्राट् ओजिन् (३१०) तथा साम्राट् निन्तोकु (३३६ ई०) ने ठीक उसी पहाड़ी पर, जहॉ इस समय किला है, अपने महल बनाये थे। सम्राट् निन्तोकु के बारे में कहा जाता है कि उसने अपने पहाड़ी-स्थित महल से जब देखा कि नीचे गॉव मे आग कुछ मद्धिम जल रही है, तो वह समझ गया कि लोग कठिनाई मे है। उसने तीन वर्ष तक लगातार लगान माफ कर दिया।

ओसाका तोयोतोमी हिदेयोशी [१५३७–१५९८] के काल मे और उसी के नेतृत्व मे एक बड़ा औद्योगिक नगर बना। जिस पहाड़ी पर पुराने महल थे, वही पर वह जापान भर मे सबसे बडा किला बनाकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, बल्कि उसने आसपास के व्यापारियो को भी प्रेरित किया कि वे नगर मे आकर बसे और वहीं अपना कारोबार जारी करें। इसके बाद से ओसाका निरन्तर प्रगति पर ही रहा।

युद्ध-काल मे म्युनिसिपल क्षेत्र का एक चौथाई हिस्सा तो सर्वथा वीरान हो गया था। नगर के लगभग आधे घर एकदम ध्वस्त हो गये।

कुछ तो हवाई आक्रमणों की बलि चढ़े और कुछ एक दूसरे के साथ सटे हुए घर, आग लगने की दृष्टि से अधिक खतरनाक समझे जाने कारण, गिरा दिये गये।

इतना सब होने पर भी अपने नागरिकों के अथक परिश्रम के फल-स्वरूप ओसाका जापान के अग्रतम व्यापारिक तथा औद्योगिक नगर की ख्याति को, युद्ध-पूर्व काल ही की तरह, पुनः प्राप्त कर रहा है।

यद्यपि घरों की संख्या अब भी सन्तोषजनक नहीं है तथापि दुकानें और मनोरंजनक-गृह तो युद्ध-पूर्व की स्थिति को भी लाँघ गये हैं। सिनेमा-गृहों की तो खास तौर पर बढ़ती हुई है।

इस शती के आरम्भ में ओसाका की आबादी लगभग ८ लाख थी। वह बढ़ते-बढ़ते तीस लाख से ऊपर चली गई थी। इस समय भी बीस लाख से ऊपर ही होगी।

ओसाका न केवल समस्त जापान का, किन्तु सारे पूर्व का महान औद्योगिक नगर है। दिसम्बर १९४८ में ओसाका में ६,३४७ कार-खाने थे, जिनमें ६३,७९,५००,००० येन का माल तैयार होता था। पहले ओसाका का सारा विदेशी व्यापार कोबे के रास्ते होता था, लेकिन पीछे ओसाका का अपना बन्दर दिन-प्रतिदिन उन्नत होने लगा और साथ ही विदेशी व्यापार भी सीधा होने लग गया। १९५० में ७३,७४,१८, ९८००० येन के मूल्य का व्यापार हुआ। निर्यात की अपेक्षा आयत की ही मात्रा अधिक थी।

रूई, चीनी आदि ओसाका का मुख्य आयत कहा जा सकती हैं और रूई का धागा, रूई के कपड़े तथा मशीन मुख्य निर्यात। समस्त जापान

के विदेशी व्यापार का २० प्रतिशत आयात और ३० प्रतिशत निर्यात ओसाका से ही होता है।

यद्यपि ओसाका काफी प्राचीन स्थान है, तथापि वहाँ न पुरातत्त्व की दृष्टि से और न कला-प्रधान शिल्प की ही दृष्टि से ऐसे स्थान हैं, जिन्हें विशेष महत्व दिया जा सके। तोभी कुछ स्थान तो दर्शनीय हैं ही—

होकोकु मन्दिर—यह ओसाका का नगर के संस्थापक तोयोतोमी हिदे-योशी (१५३७–१८५८) की स्मृति को समर्पित है। पास ही उसकी एक काँसे की मूर्ति भी है। जमीन मे जो पाषाण-प्रदीप गडे हैं, वे, कहा जाता है, कोरिया से वहाँ लाये गये थे।

तेम्मगू—दसवीं शती के मध्य में स्थापित यह एक बहुत पुराना शिंतो मन्दिर है। वर्तमान भवन एक प्रकार से आधुनिक ही है, क्योंकि अधिकांश भवन या तो इसी शती के आरम्भ में बने हैं या पुरानों की बहुत ज्यादा मरम्मत कर दी गई है। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में इस मन्दिर मे एक उत्सव होता है, जो जापान के महान उत्सवों मे से एक है—प्रदीपो से प्रज्वलित नौकाओं में नाचना-गाना तथा आतिशबाजी होती है।

ओसाका किला

यह रेलवे स्टेशन से लगभग तीन मील दूर है। जहाँ यह बना है, वहाँ पहले होन्गाजी मन्दिर था। बौद्ध भिक्षुओं ने उसे किले का रूप दे सोलहवीं शती मे आक्रमणकारी से उसकी रक्षा की थी। हिदेयोशी ने उसी स्थान पर यह किला बनाया। १५९६ तक जापान के सारे सरकारी फ्तर यही थे। पूर्व से पश्चिम किले की लम्बाई चौदह मील थी और

इसका लम्बा घेरा लगभग सात मील का था। वर्तमान किला केवल अन्दरूनी भाग कहा जा सकता है।

इस किले में ओसाका के प्राचीन इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक दर्शनीय वस्तुएँ हैं।

ओसाका की विदेशी व्यापारिक सस्थाएँ

यह सस्था १८६० से स्थापित है और इसका उद्देश्य है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करना। यहाॅ जापान से निर्यात की जा सकनेवाली वस्तुओं की एक स्थायी प्रदर्शनी है और विदेशी व्यापारियों को हर प्रकार की व्यापार-सम्बन्धी सहायता दी जाती है। इस सस्था से व्यापारी कारोबार के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

शितेन्नोजिमन्दिर—नारा काहोर्ग्यूजी मन्दिर तथा ओसाका का शितोन्नोजि मन्दिर—दोनो ही समकालीन हैं और दोनो के निर्माण का श्रेय राजकुमार शोतोकु [५७३–६२१] को ही है। मन्दिर अनेक बार आग की बलि चढ चुका है और १८१२ से चले आ रहे कई भवन पिछले १९४५ के हवाई आक्रमणो की बलि चढ चुके हैं। मन्दिर की निधियों म विशेष है—ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास नकल की गई सद्धर्म-पुण्डरीक की पाण्डुलिपि और राजकुमार शोतोकु का खड्ग। इस समय शन्नितोजि बौद्ध-धर्म के तेन्दाई सम्प्रादय से सम्बन्धित है।

तेन्नोजि पार्क—यह शितोन्नोजि से नातिदूर ५६ एकड़ की भूमि मे फैला हुआ विस्तृत पार्क है। यहाॅ आपको सत्व-उद्यान-गृह मिलेंगे, बनस्पति-उद्यान-गृह; म्युनिसिपल कला-भवन तथा अनेक दर्शनीय वस्तुएँ मिलेगी।
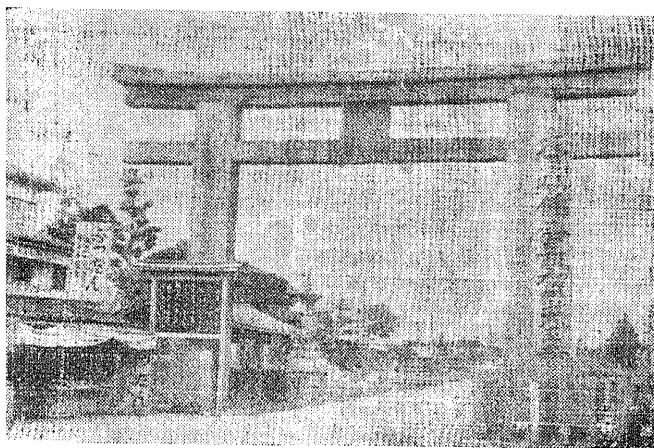
शितेन्नोजि मंदिर का वाह्य द्वार (पृ० १८४–१८५)

विद्युत्-विज्ञान-अजायबघर—इसकी स्थापना १९३७ में हुई थी। यहाँ, उष्णता, शक्ति और प्रकाश के लिये आवश्यक अनेक प्रकार के वैज्ञानिक साधनो का प्रदर्शन किया गया है। दर्शकगण स्वतन्त्रतापूर्वक इन्हे अच्छी तरह देख ही नहीं सकते, किन्तु प्रयोग भी कर सकते हैं।

कोबे

यूरोप से 'स्वेज' के रास्ते जापान आने और जापान से जानेवाले यात्रियो को कोबे के जल-मार्ग से ही विदा होना पड़ता है।

४५ वर्ष पहले जब कोबे के मार्ग से विदेशी व्यापार होना आरम्भ हुआ तब यह इकुता-मन्दिर को घेरे हुए एक सामान्य गाँव था। कोबे के पास ही ह्योगो नगर था—एक प्राचीन नगर, किसी समय की राजधानी भी। ह्योगो एक व्यापारिक बन्दर के रूप मे उन्नति करता रहा, और ओसाका जानेवाले जहाज यहाँ भी रुकने लगे। १७८८ मे यहाँ की जनसख्या केवल १९,५८० थी, किन्तु १८६८ की प्रथम जनवरी तक जनसख्या पर्याप्त बढ गयी। इसी समय से कोबे विदेशी व्यापार के लिये एक खुला बन्दरगाह बन गया। आगामी पचास वर्षा मे कोबे ने इतनी उन्नति की कि शनैः-शनैः वह ह्योगो को हड़प गया।

चीन-जापान युद्ध [१८९४–९५] और रूस-जापान-युद्ध [१९०४–५] दोनो कोबे-बन्दर की अभिवृद्धि मे सहायक हुए। १९२३ मे जब भूकम्प आया और योकोहामा का रेशम का व्यापार चौपट हुआ तब से रेशम का बहुत-सा व्यापार कोबे से ही होने लगा। निर्यात की जानेवाली चीजो मे अभी भी रेशम मुख्य है।

द्वितीय महायुद्ध मे कोबे बुरी तरह हवाई आक्रमणों का शिकार

हुआ। परिणाम-स्वरूप नगर का तीन-चौथाई हिस्सा ध्वस्त हो गया। अब फिर लगभग सारा नगर दुबारा बनकर तैयार है।

नवम्बर १९४५ मे कोबे की जन-सख्या कम होकर केवल ३,७८,५९२ रह गई थी। अब वह उढते-बढते ९ लाख के आसपास पहुँच गई है। जनसख्या के हिसाब से कोबे जापान का छठा नगर है।

कोबे बन्दर मोटे तौर पर दो भागों मे विभक्त है। दक्षिण-भाग जापान के देशी-व्यापार का केन्द्र है और उत्तरी हिस्सा विदेशी व्यापार का। पिछले कुछ वर्षों मे इस बन्दर ने बहुत उन्नति की है। जापान की पार्लियामेन्ट न १९५० मे एक नया कानून पास किया है, जिसका उद्देश्य है कोबे को एक आधुनिक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय बन्दर बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नत करना।

चूँकि कोबे भी ओसाका की ही तरह उद्योग तथा व्यापार-प्रधान नगर है, इसलिये यहाँ भी अधिक ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक महत्व के दर्शनीय स्थानों की आशा नहीं की जा सकती, तोभी यात्री के लिए कुछ आकर्षण तो है ही।

फुततबे-सा-पार्क—समुद्र-तल से डेढ हजार फुट ऊँची, घने जगल से ढकी, एक पहाडी है। आधे रास्ते पर शिगोन सम्प्रदाय का देरयुजि नामक बौद्ध-मन्दिर है। फुतत-बे-सा का शब्दार्थ है 'पर्वत-द्विबार', और इसका कारण यह है कि शिंगोन सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता कोबे-देशी ने बौद्ध-धर्म के अध्ययनार्थ चीन जाते और वहाँ से वापिस आते समय सन् ८०४ तथा ८०६ में—दो बार इस पर्वत की यात्रा की थी।

पर्वत के दामन मे पॉच एकड़ की एक सुन्दर झील है, जिसमें नौकाएँ चलती रहती हैं।

नोफुकुजि (मन्दिर)—यह बौद्ध धर्म के तेन्दाई सम्प्रदाय का एक मन्दिर है और ह्योगा-स्टेशन के पास ही है। युद्ध से पहले इस मन्दिर का नाम था–'ह्योगो-देबुत्सु' अर्थात् ह्योगो के बौद्ध। यहॉ कामाकुरा की ही तरह कॉसे की एक साढ़े-सैंतीस फुट ऊँची बैठी बुद्ध-मूर्ति थी। भक्तो को अपार कष्ट हुआ ही होगा जब युद्ध के दिनों में उस·मूर्ति के कॉसे को युद्धकालीन आश्यकताएँ पूरी करने के लिए गला डाला गया!

माया-पर्वत—यह २,२६३ फुट ऊँचा पर्वत है, जिस पर तोरितेनजोजि नाम का बौद्ध-मन्दिर स्थित है। मन्दिर तक पहुँचने के लिए आदमी को लगभग सवा मील ऊपर तक ढालुवॉ पहाड़ी पर चढना पड़ता है। मन्दिर के नीचे ३९८ पत्थर की सीढ़ियॉ बनी हैं और पर्वत का शिखर ४०० फुट ऊँचा है। वहाँ से नगर का अत्यन्त मनोरम दृश्य दिखाई देता है। कहा जाता है कि बौद्ध-धर्म के शिंगोन सम्प्रदाय के इस मन्दिर की स्थापना किसी भारतीय बौद्ध भिक्षु के हाथों सन् ६४६ में हुई। यहॉ करुणामय भवन में स्थापित एकादश-मुखी करुणामयी ही पूजा की वस्तु है। यहॉ बुद्ध की माता महामाया देवी के नाम पर समर्पित एक माया-भवन भी है। पर्वत भी स्पष्टतः माया देवी के ही नाम पर माया-पर्वत कहलाने लगा होगा।

आत्मा-स्या—यह कोबे का राज-ग्रह है जहॉ कई तरह के पानी के ऐसे ठण्डे-गर्म चश्मे हैं, जिनका औषधि की तरह उपयोग होता है।

तेरा-नो-अत्सुमोरी—यह एक १५ वर्षीय तरुण था। ११८४ मे एक

प्रसिद्ध योद्धा के हाथो वह मारा गया। योद्धा उसे मारना नहीं चाहता था, किन्तु 'युद्ध' 'युद्ध' है। उसे उसकी हत्या करनी पड़ी। बाद मे योद्धा को बड़ी आत्मग्लानि हुई। उसने ससार को त्याग दिया और धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगा। जहाँ अत्सुमोरी को दफनाया था, वही सुम रेलवे स्टेशन से एक मील दक्षिण की ओर यह अत्सुमोरी चैत्य बना है।

तेसन्जि-नन्दिर—इस प्राचीन मन्दिर की स्थापना ७१६ में हुई थी। १३०४ मे जिस मुख्य भवन तथा प्रमुख द्वार का निर्माण हुआ, उनके अतिरिक्त अमिताभ की एक सुन्दर काष्ठ-मूर्ति, सद्धर्म-पुण्डरीक की बत्तीस पोथियाँ और अनेक सुन्दर बौद्ध-रौद्र और अनेक सुन्दर बौद्धचित्र इस मन्दिर की 'महत्वपूर्ण' सास्कृतिक वस्तुएँ हैं।

नारा तथा कामकुरा में 'महान बुद्ध'

साधारण धारणा है कि कामकुरा की बुद्ध-मूर्ति ही ससार भर मे कॉसे की सबसे बड़ी मूर्ति है। किन्तु, ऐसी बात नही है। ससार मे कॉसे की सबसे बड़ी मूर्ति नारा का 'महान बुद्ध' ही है।

जापान के बौद्ध-सम्प्रदायों मे एक सम्प्रदाय है केगोन। केगोन का सस्कृत रूपान्तर है अवतसक अर्थात् पुष्प-गुच्छ। इस सम्प्रदाय के लोगो की धारणा है बुद्धत्व-प्राप्ति के अनन्तर शाक्य-मुनि एक सप्ताह तक तो ध्यानावस्थित बैठे रहे। इसके बाद उन्होंने इसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों अथवा मान्यताओ का उपदेश दिया।

प्रसिद्ध तोदेजि (मन्दिर) इसी सम्प्रदाय का है। सम्राट् शोम् (७०१–७५६) ने इसके निर्माण की आज्ञा दी थी और उसी के राज्यकाल (७४५ ई०) मे इसका बनना आरम्भ हुआ था जो ७५२ में समाप्त हो गया था। पीढ़ी-दर-पीढी इस मन्दिर का आदर बढता गया। यह नारा के 'सात महान् मन्दिरो' मे से एक था।

देबुत्सु—महान-बुद्ध

जो मूर्ति तोदेजि मन्दिर में सर्वाधिक पूजनीय मानी जाती है, वह

दे-बुत्सु (महान बुद्ध) की है। सम्राट् शोमु ने ही ७४३ मे इस मूर्ति के ढालने की आज्ञा दी थी। यह प्रयत्न सफल रहा। दो वर्ष बाद ७४५ मे फिर इसका श्रीगणेश हुआ और चार वर्ष मे (७४६ में) कहीं जाकर इसकी 'इति' हुई। आठ वर्ष मे तीन बार इस विशाल-मूर्ति के ढालने का प्रयत्न किया गया। बुद्ध-मूर्ति पद्मासनस्थ है और अभय-मुद्रा में है।

मूर्ति का वजन ४५२ टन कहा जाता है। ऊँचाई ५३ ५ फुट है। केवल चेहरा ही १६ फुट लम्बा और ६'५ फुट चौड़ा है। आँखे पौने चार फुट की हैं; नाक डेढ़ फुट ऊँची; मुँह साढ़े तीन फुट; कान ८५ फुट; हाथ ६'८ फुट और अँगूठा ही ४ ८ फुट है। अब आप इस विशाल बुद्ध-मूति की कल्पना कर सकते हैं!

इस मूति के निर्माण मे जो सामग्री लगी है, उसमे ४३७ टन तो केवल काँसा बताया जाता है। इसके अतिरिक्त १६५ पौंड पारा; २८८ पौण्ड शुद्ध सोना; ७ टन मोम और बहुत-सा कोयला तथा अन्य कई पदार्थ हैं।

जिस १० फुट ऊँचे और ६८ फुट के घेरे के मच पर बुद्ध-मूति की स्थापना की गई है, वह काँसा-निर्मित कमल की ५६ पँखुड़ियों का बना हुआ है। इनमे से प्रत्येक पँखुडी १० फुट ऊँची है और एक के बाद एक पँखुड़ी क्रमशः ऊपर तथा नीचे को मुड़ी हुई है। यह काँसे का आसन एक बड़ी भारी ७ फुट ऊँची प्रस्तर-वेदिका पर रखा हुआ ह। आसन के निचले हिस्से मे सुमेरु पर्वत अंकित है और अनेक बुद्धों तथा बोधिसत्त्वो के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। मूर्ति की पिछली ओर तथा सिर के चारो ओर सुनहरी रग की काष्ठ-रश्मि-माला है, जिसमें १६ बुद्धो का दर्शन है।

यह ठीक-ठीक कहा नही जा सकता कि इस रश्मि-माला का निर्माण कब हुआ ?

इस 'महान-बुद्ध' की रूपरेखा कुनिकन-नो-मुरजि-किमिमरो नामक एक कोरिया-निवासी द्वारा तैयार की गई थी और इसे तकेचि मकुनि, तकेचि ममरो तथा अन्य लोगो ने ढाला था।

इस 'महान-बुद्ध' की प्राण-प्रतिष्ठा ७५२ के अप्रैल मे हुई थी। उस समय सम्राट् तथा सम्राज्ञी के अतिरिक्त बडे-से-बडे राज्याधिकारी और कोई दस हजार भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ उपस्थित थीं। ८५५ के भूकम्प ने 'महान-बुद्ध' के सिर को थोड़ा हिला दिया था। ८६१ में उसकी मरम्मत की गई। ११८० मे जब 'महान-बुद्ध' क भवन मे आग लगी, तब सिर और हाथ फिर पिघल गये थे। १५६७ में फिर भूकम्प ने 'सिर' को हिला दिया। १६९२ में सिर को फिर सुप्रतिष्ठित कर दिया गया। इसके बाद भी बीच-बीच मे 'बुद्ध-मूर्ति' मे कही-कहीं नया कॉसा जड़ना ही पड़ा है।

महान्-बुद्ध के सामने दो मूर्तियाँ है—एक अवलोकितेश्वर की और एक आकाश-गर्भ की।

इस 'देबेत्सु केगोन' का जापानी जनता के मन पर इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि "रशोमोन" जैसी प्रसिद्ध फिल्म के निर्माता ने अब 'देबत्सु केगोन' के निमाण को ही अपने हाथ मे लिया है। १२०० वर्ष पहल तोदे जि (मन्दिर) में 'महान-बुद्ध' की 'प्राण-प्रतिष्ठा' हुई थी, और १२०० वर्ष बाद अब जापान में 'महान बुद्ध' नाम से एक शानदार चित्र-पट बनाया जा रहा है।

हमें जापान-प्रवास के कुछ दिनों बाद इस 'चित्र-पट' के अभिनेताओं से मिलने का अवसर मिला था। हमें वह 'महान बुद्ध-मूर्ति' भी देखने को मिली, जो इस 'चित्र-पट' के निर्माण के लिए तैयार की गई है। यह 'बुद्धमूर्ति' आकार-प्रकार में 'नारा' की बुद्ध मूर्ति से किसी तरह कम नहीं है—बड़ी ही होगी।

चित्र पट का कथानक कुछ-कुछ इस प्रकार है—

"७४५ में नारा में जापान की राजधानी की स्थापना। राजधानी के परिवर्तन के विवाद में 'महान-बुद्ध' की मूर्ति का निर्माण स्थगित हो चुका है। प्रश्न है कि उसे फिर जारी किया जाय अथवा नहीं? मूर्ति-निर्माण के पक्ष में भी शक्तिशाली निहित-स्वार्थ हैं, और विरोध में भी।

"महन्थ ग्योकी, स्वाभाविक तौर पर मूर्ति-निर्माण के पक्ष में हैं। उनके सहस्रों अनुयायी हैं। राजधानी के भीतर और बाहर उनका प्रभाव असीम है।

"एक दिन किमिमरो कुनिनोनक—एक प्रसिद्ध इंजीनियर तथा मूर्तिकार—महन्थ ग्योकि के पास आता है और उसे सूचना देता है कि 'बुद्ध-मूर्ति' के निर्माण-कार्य का वह 'बड़ा अफसर' नियुक्त हुआ है। राजाज्ञा से मूर्ति-निर्माण-कार्य फिर तुरन्त आरम्भ होने को है।

"किमिमरो को अपनी योग्यता में अधिक विश्वास नहीं, क्योंकि इधर ही वह एक कार्य में असफल हो चुका है। किन्तु किमिमरो की एक प्रतिभाशाली तरुण से भेंट होती है, जो महन्थ ग्योकि को अपनी यात्रा में मिला था। किमिमरो की नजर अकस्मात् उस बुद्ध-मूर्ति पर जा पड़ती है, जिसे उस तरुण ने एक मिट्टी की पहाड़ी में से काटकर बनाया था।
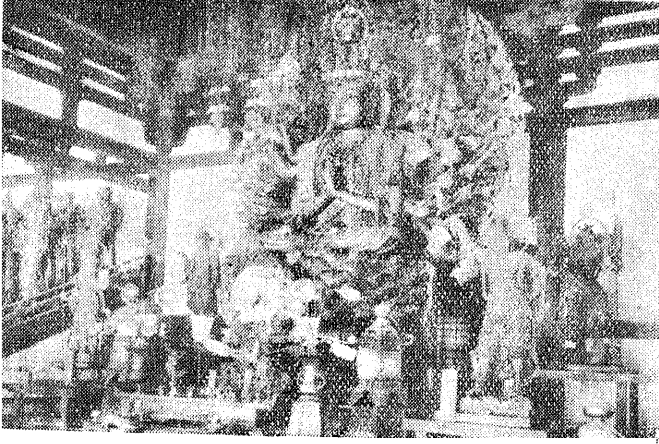
दिव्य दर्शन ! (पृ० १६२-१६३)

उस तरुण का परिचय प्राप्त कर किमिमरो तुरन्त महन्थ ग्योकि के पास पहुँचता है और उनसे अपनी सहायता के लिये उस तरुण को माँग लेता है।

"मूर्ति-निर्माण की रूप-रेखा स्थिर होती है। उस्ताद अपने सहायक कुनिहितो के नमूने की एक छोटी मूर्ति बनाने का काम सौंपता है। मेमे नामक तरुणी के सिर पर कुनिहितो के 'प्रेम' का भूत सवार हो जाता है। उसे पता लगता है कि मूर्ति-निर्माण-कार्य समाप्त होने पर तरुण शिल्पकार को एक ऊँचा पद दिया जायगा। तब, वह किसी सामान्य लड़की से ब्याह न कर सकेगा।

"वह मूर्ति-निर्माण की विरोधिनी बन जाती है।

"कुनिहितो के प्रयत्न के फलस्वरूप नमूने की ७ फुट की बुद्ध मूर्ति तैयार हो जाती है। नकमरो तचीबाना, जो आरम्भ से ही मूर्ति-निर्माण का विरोधी था, कार्य को रोकने का भरपूर प्रयत्न करता है। वह किसी से शिल्प-कार पर जादू-टोना तक करवाता है।

"किमिमरो के एक दूसरे प्रधान शिष्य के मन में इर्ष्या का अकुर उग आया। कुनिहितो की कला के कारण और कुमारी मेमे के सौन्दर्य्य के कारण, जिस पाइप मे से पिघला हुआ काँसा जाता है, वह उस पाइप को तोड़ डालता है और कुनिहितो की हत्या करने का प्रयत्न करता है।

"सौभाग्य से कुनिहितो बच निकलता है।

"इसी बीच वह एक ऊँचे खानदान की विधवा के लिये आकर्षण का विषय बन जाता है। वह आज्ञा देती है कि वह उस विधवा की एक मूर्ति बनाये। उस आज्ञा में एक धमकी भी है–"यदि कुनिहितो विधवा

की मूर्ति बनाना स्वीकार नहीं करेगा तो उससे बुद्ध-मूर्ति के निर्माण का काम भी छीन लिया जायगा।

"महान बुद्ध के निर्माण-कार्य में अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण वह उस विधवा की मूर्ति बनाना भी स्वीकार कर लेता है।

"इस बीच मेमे का 'प्रेम' और भी अन्धा हो जाजा है। ओगुसु उसकी ईर्ष्या को ताड़ जाता है और सोचता है कि उसे ही अपना साधन बनावे।

"महान बुद्ध के निर्माण-कार्य में इतनी उन्नति हो गई है कि अब ऊपर उठा हुआ दहिना हाथ ढाले जाने को शेष है। ओगुसु की प्रेरणा से मेमे बिना किसी को पता लगने दिये साँचे में बालू डाल देती है।

"बिने बनाये हाथ की कलाई टूटकर गिर जाती है।

"इस सफलता के फलस्वरूप प्रधान शिल्पी किमिमरो तथा उसका सहायक कुनिहितो-दोनो पदच्युत कर दिये जाते हैं। कार्य्य बन्द कर दिया जाता है।

"मेमे को पश्चात्ताप होता है और वह कुनिहितो क पास आ, अपना अपराध स्वीकार करती है।

"महन्थ ग्योकि को चैन नहीं। वह अस्वस्थ रहने के बावजूद राजदरबार में पहुँचता है और कार्य के पुनः आरम्भ किये जाने की प्रार्थना करता है। ८२ वर्षों की आयु में महन्त का शरीरात हो जाता है। उसकी 'अन्तिम-इच्छा' से सम्राट् का मन पिघल जाता है, और वह फिर 'महान-बुद्ध' के निर्माण की आज्ञा देता है। उस्ताद तथा शागिर्द—दोनो की पुनर्नियुक्ति कर दी जाती है।

"ओगुसु अब भी बाज नहीं आता। उसने कुछ ऐसा इन्तजाम किया है कि पिघले हुए काँसे मे जस्ता मिला दिया जाय ताकि अन्त मे मूर्ति पर गिल्ट (चमक) करना असम्भव हो जाय।

"कुनिहितो को पता लग जाता है कि पिघले हुए काँसे मे जस्ता मिला दिया गया है। वह अपने शरीर से उस मिलावट को रोकता है, और इस तरह जखमी हो जाता है और मेमे के हाथों मे ही प्राण त्याग देता है।

"अन्त मे ७४९ मे बुद्ध की 'महान मूर्ति' तैयार हो जाती है। उसकी प्राण-प्रतिष्ठा उत्सव होता है, जिसमे सम्राट् भाग लेते हैं; साम्राज्ञी भाग लेती है, बड़े-बडे सरकारी अफसर भाग लेते हैं, दस हजार भिक्षु भाग लेते हैं और तरह-तरह के बाजे-बजाते हैं। जापान में बौद्धधर्म के प्रवेश के बाद से जापान ने इतना बड़ा दूसरा महोत्सव जाना ही नही।

"सभी उपस्थित लोगो को यह देखकर आश्चर्य होता है कि मेमे 'महान् बुद्ध' की हथेली पर नाच रही है और अत्यन्त कारुणिक गीत गा रही है।

"अब वह उन्मत्त हो चुकी है। उसका प्रेम-पात्र ही नहीं रहा है। उसका विश्वास है कि उसके प्रेम-पात्र को उस करुण-मूर्ति के निर्माण में अनन्त-सुख का लाभ हुआ होगा।

"कुनिहितो ने "महान् बुद्ध" के निर्माण में अपन प्राणों की बलि चढा दी है।"

कामकुरा की बुद्ध मूर्ति

नारा के 'महान बुद्ध' के ही समान कामकुरा में भी 'महान बुद्ध'

क दर्शन प्राप्य हैं। नारा-स्थित बुद्ध मूर्ति वैरोचित बुद्ध की मूर्ति मानी जाती है, और कामकुरा-स्थित बुद्ध-मूर्ति अमिताभ बुद्ध की।

यह मूर्ति भी नारा की बुद्ध-मूर्ति की ही तरह पहले एक बडे भवन के अन्तर्गत थी। १४९५ के बाद से खुले आकाश के नीचे है।

मूर्ति की ऊँचाई ४२ फुट, ६ इच है, घेरा ९७ फुट; मुँह की लम्बाई ७ फुट, ८ इच; आँखों की चौड़ाई ३ फुट, ५ इच। मूर्ति के अन्दर-अन्दर सीढ़ियाँ भी बनी हैं, जिनसे आदमी मूर्ति के शिखर तक जा सकता है।

नारा के 'बुद्ध' के साढ पाँच सौ वर्ष बाद यह कामकुरा की 'बुद्ध' की मूर्ति ढाली गई है। भूमि-स्पर्श मुद्रा है।

निस्सन्देह यह उतनी विशाल नहीं जितनी नारा की मूर्ति; लेकिन कलाकृति के हिसाब से नारा की मूर्ति की कामकुरा की मूर्ति के साथ कोई तुलना ही नहीं। तभी तो १९०३ में रुडयर्ड किपलिंग जैसे कवि की लेखनी से निकला है—

जब उषःकालीन प्रार्थना हो रही हो
उस समय,
जब तुमने अपने कारोबार आरम्भ न किये हो,
उस समय,
जरा सोची तो सही
कि क्या कामकुरा से उधर,
और कहीं भी,
मानव-रूप में,

खुले आकाश में कामाकुरा की बुद्धमूर्ति (पृ० १६६-१६७)

भगवान का दर्शन हो सकता है?

वहीं पास ही एक होटल देखा। उसका विज्ञापन था—

"बुद्ध-होटल"

"खाओ, पीओ और नाचो।"

पश्चिम से आई हुई छिछली भौतिक सभ्यता की कदाचित् यही सबसे बड़ी देन है!

त्योहार, छुट्टियाँ तथा खेल-कूद

आदमी का त्योहारो के अवसर पर अत्यधिक प्रसन्न होना और स्कूल के बच्चो का छुट्टी होने पर अत्यधिक खुश होना, मुझे अपने सामान्य जीवन और शिक्षा-पद्धति की कठोरतम आलोचना प्रतीत होते हैं।

जापान मे धार्मिक त्यौहार अधिक नही हैं, छुट्टियॉ भी अधिक नही; किन्तु खेल-कूद की कमी नहीं।

रविवार तथा आधे शनिवार के दिन की छुट्टी के अतिरिक्त, जापान में कुल ६ जातीय छुट्टियॉ होती हैं। जापानी जातीय उत्सवों में विशेष ये हैं—

नव वर्षारम्भ—भारतीय नव-वर्षारम्भ की तरह जापान का भी अपना नव-वर्षारम्भ है, जो कि चन्द्रमास के हिसाब से प्रायः फरवरी के पहले या दूसरे सप्ताह में पड़ता है। किन्तु अब उसका प्रचलन 'ग्रामीण' जनपदो में ही रह गया है। 'जनपदों' का नववर्षारम्भ पहली जनवरी को ही होता है। इस प्रकार पहली जनवरी ही जापान की भी प्रथम जातीय छुट्टी है।

यह नववर्षारम्भ का उत्सव पहली जनवरी से तीसरी जनवरी तक मनाया जाता है। प्रत्येक घर में अधिक-से-अधिक खुशी के साथ उत्सव मनाने की तैयारियाँ की जाती हैं, और इन दिनो मे यथासम्भव समस्त कारोबार बन्द रहता है।

घरो के द्वार सफेद कागज तथा बाँस की टहनियों, कागज की कतरनो और सन्तरो से सजे रहते हैं। जापानी मे सन्तरे के लिए जो चिन्ह है, ठीक वही चिन्ह 'एक पीढी से दूसरी पीढी' के लिए है। इसलिए सजावट मे सन्तरा अनिवार्य हो उठा है।

उत्सव के दिनो में विशेष भोजन किया जाता है। नववर्षारम्भ का प्रथम भोजन बड़ी भारी बात माना जाता है। यदि सम्भव होता है तो इस दिन का भोजन बनाने के लिए पास के कुएँ अथवा सोते से ताजा पानी मँगवाया जाता है। यह पानी वक-मेजु अथवा 'तरुण-वारि' कहलाता है। माना जाता है कि इस जल में आदमी को वर्ष भर स्वस्थ बनाये रखने की सामर्थ्य छिपी है। इस दिन का विशेष भोजन 'जोनि' कहलाता है—चावल की चपातियों और सब्जियो का अद्‌भुत सम्मिश्रण। जिस प्रकार वर्ष के अन्य सभी दिनों में चावल खाना अनिवार्य है, उसी प्रकार नववर्षारम्भ के दिन 'जोनी' खाना अनिवार्य है।

अन्य अनेक खाद्य-वस्तुओं के साथ 'तोसो' नाम का एक पेय पदार्थ भी रहता है। यह एक प्रकार की मधुर मसालेदार सुरा होती है।

हर घर में खुशी-ही-खुशी दिखाई देती है—बात-चीत, गाना, हँसी-मजाक। गलियो में छोटे बच्चे पतग उड़ाते नजर आते हैं। सड़को

पर चारों ओर मोटरें-ही-मोटरें दिखाई देती हैं—कोई मन्दिर में दर्शनार्थ जा रहा है, तो कोई उद्यान अथवा थिएटर में मनोरंजनार्थ।

जापान का और कोई भी दूसरा पर्व नववर्षारम्भ की तुलना नहीं कर सकता। यह महोत्सव कहीं-कहीं लगातार पाँच दिनों तक चलता रहता है। मैत्री-भावना इस उत्सव का प्राण है। तमाम शत्रुता भुला दी जाती है। कल के शत्रु आज के दिन मित्र बन जाते हैं।

चौथे दिन तमाम सरकारी दफ्तर खुल जाते हैं और सामान्य कारबार आरम्भ हो जाता है। छठे दिन कई नगरों मे आतिशबाजी दिखाई जाती है। नववर्षारम्भ के अवसर पर तो नहीं, किन्तु अपनी जापान-यात्रा के अवसर पर हमें भी जापानी आतिशबाजी देखने का सुयोग मिला था। जापानी आतिशबाजी से भी मनोरंजक थी—वह हिन्दी-पत्रिका जो उस समय बाँटी गई थी। पत्रिका का कुछ अश हम ज्यों-का-त्यों नीचे नीचे दे रहे हैं—

'जहान का बौद्ध की मजलिस मे हाजिर हुए आप कैसे हैं? हमने बहुतेरा दिन आपका आने का इन्तजार किया। हमने आज के तेवहार के लिए आतशबाजियों को तैयार किये हैं। आप हम सबको हिम्मत दे कि हम महात्मा गौतम के बताये हुए रास्ते पर चल सकें। शायद उसने आपको आरामों को देगे। आप धीरे-धीरे उनको देखे। हम इसका छपनेवाले का आखिर मे आतशबाजियो को खूब समझने के लिए उनका नमूनों की तसवीरों को जमा किए हैं। अपनी मिहर्बानी हम पर हमेशा रखिए।'

बुद्ध-जयन्ती—भारत मे तथा अन्य कई बौद्ध देशों मे बैशाख-

पूर्णिमा बुद्ध के जन्म का ही नहीं, बुद्धत्व की प्राप्ति का तथा परिनिर्माण का भी दिन माना जाता है। किन्तु जापानी बौद्धों के लिए अप्रैल के महीने की आठवीं तारीख ही बुद्ध के जन्म का दिन है। उस दिन सभी मन्दिरों में फूलों के छोटे मन्दिर बनाये जाते हैं। उस मन्दिर में बुद्ध की एक छोटी मूर्ति को प्रतिष्ठित किया जाता है और अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के रूप में जापानी-बौद्ध चाय से उस मूर्ति को अभिषेक करते हैं।

बुद्ध-जयन्ती महोत्सव भी जापान का बड़ा महोत्सव है।

ताराओं का उत्सव

आकाश-गंगा के दोनो किनारो पर स्थित दो तारों का मिलन उसी एक रात को होता है। इस दिन उन दोनो के मिलन की खुशी में उन्हे नाना प्रकार के फल भेंट किए जाते हैं। बाग मे गाड़े गए अनेक बॉसों की शाखाओ पर फलों को लटका दिया जाता है, ताकि वे आकाश-गंगा-स्थित युगल को समर्पित मान लिए जाएँ। बॉस पर कागज की लम्बी-लम्बी नाना वर्णों की पट्टियाँ भी लटका दी जाती हैं, जिनपर सुन्दर कविताएँ लिखी रहती हैं। यह प्रथा विशेष रूप से स्कूल के विद्यार्थियों मे भी फैल गई है, जहाँ बच्चे इसी प्रकार के कागजों पर लिखी हुई अपनी-अपनी सुलेखावली इन तारो को समर्पित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उनके अक्षर और भी सुन्दर हो।

श्राद्धोत्सब—लगभग १४०० वर्ष से, जब स चीन के रास्ते जापान में बौद्ध-धर्म ने प्रवेश किया, तब से यह उत्सव मनाया जा रहा है। यह

जीवितों और प्रेतो के मिलन का उत्सव है। इस अवसर पर सभी श्मशान-भूमियो में दीपावली की जाती है, जो देखते ही बनती है ।

नदी-महोत्सव—यह किसी भी तरह से धार्मिक उत्सव नहीं है। इस का उद्देश्य है कि लोग नदी पर आयें और शीतल वायु का आनन्द लें। प्रदीप-युक्त नौकाएँ, जिनमे बैठी वारागनाएँ गाती रहती हैं, नदी पर तैरती रहती हैं। तटों पर और तटो के ऊपर स्थित घरो में बैठी दर्शक-मण्डली इस मनोहर दृश्य का पूरा आनन्द लूटती है।

बच्चो का उत्सव—इस उत्सव का यथार्थ शब्दार्थ है 'सात-पाँच-तीन"। कहा जाता है कि हर नवम्बर की १५ तारीख को पिछले चार सौ वर्षों से यह नियमपूर्वक मनाया जाता है। इस दिन ऐसे माता-पिता जिनके बच्चे सात, पाँच या तीन वर्ष के होंगे, मन्दिरो मे जाते हैं और पारिवारिक देवता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि उनके बच्चे सकुशल उस आयु के हो गए।

जापान मे वर्ष का शायद ही कोई दिन ऐसा हो, जब कहीं-न-कहीं कोई उत्सव न मनाया जाता हो।

जहाँ तक खेल-कूद की बात है, जापान में सभी देशी-विदेशी खेल खूब खेले जाते हैं।

जुजित्सु का मुख्य सिद्धान्त है, अपने विरोधी की शक्ति को अपने काम मे ले आना। इसके लिए जितने भी दाँव है, उन्हें तीन हिस्सो में बाँटा जा सकता है—(१) अपने विरोधी को जमीन दिखा देना, (२) अपने विरोधी को जकड़ लेना, (३) अपने विरोधी के मर्मस्थल पर आघात करना।

जुजित्सु के खिलाड़ियों को यह भी शिक्षा दी जाती है कि यदि उनका विरोधी खेल मे बेहोश हो जाय तो उसे फिर होश में कैसे लाया जाय।

जुजित्सु, घूँसे-बाजी और कुश्ती के अनेक दाँव समान हैं। शारीरिक-विकास की दृष्टि से जुजित्सु पद्धति मनुष्य के शरीर की चतुर्मुखी प्रगति में सहायक होती है। यह देखने मे बड़ी अच्छी लगती है, किन्तु घूँसेबाजी की तरह इसमे आदमी लहू-लुहान नहीं होता।

जुजित्सु के खिलाड़ी अपनी खास वर्दी रखते हैं--सफेद कोट, सफेद पतलून और अपने-अपने दर्जे के अनुरूप वर्ण-विशेष की पट्टी।

१६४६ मे जुजित्सु फेडरेशन का सगठन हुआ। इसने अनेक युद्ध-पूर्व सस्थाओ का स्थान ले लिया। १६५० मे स्कूलों मे जुजित्सु शिक्षा पर लगा हुआ प्रतिबन्ध हट गया। तब से जुजित्सु के अनेक दगल हो चुके हैं।

जिस क्रम से फ्रास, ब्रिटेन तथा अमरीका मे जुजित्सु के खिलाड़ियो की संख्या बढ़ रही है, उससे यह असम्भव नहीं लगता कि निकट-भविष्य मे जुजित्सु के अन्तर्राष्ट्रीय दंगल होने लग जाएँ।

सुमो

सुमो भी एक प्राचीन खेल है, जो विद्यार्थियो तथा ग्रामीणो द्वारा समान रूप से खेला जाता है। एक चौकोर तख्ते पर १५ फुट के घेरे मे फैली हुई बालू की मोटी तह रहती है। इस लम्बे-चौडे तख्ते के चारो सिरों पर चार खम्बे होते हैं, जिनपर छत पड़ी रहती है। दगल आरम्भ करने के समय दोनो खिलाड़ियों को उस बालू के गोलाकार अखाडे में

बुलाया जाता है। मध्यस्थ निर्णायक दर्शकों को उनके नाम बता देता है ताकि वे उनसे परिचित हो जायँ। दगल शुरू होने से पहले दोनों पहलवान पास रखे पानी से मुँह साफ करते हैं और पवित्रता के लिए कुछ नमक पृथ्वी पर छिड़कते हैं। जबतक वे एकदम जूझ नहीं पड़ते हैं, तबतक उनकी यह औपचारिक कारंवाइयाँ—पानी से कुल्ला करना, निमक छिड़कना, और भूमिस्पर्श करना—बार-बार दोहराई जाती हैं। पुराने समय में कभी-कभी यह नखरे तीस से चालीस मिनट तक ले लेते थे। अब यह नियम हो गया है कि इन नखरों में अधिक-से-अधिक पाँच मिनट व्यतीत किये जा सकते हैं।

दगल में दोनों पहलवानों का प्रयत्न रहता है कि वह दूसरे पलवान को या तो बालू के घेरे से बाहर ढकेल दे, या वहीं, पैरों के अतिरिक्त उसके शरीर के शेष हिस्से मे से किसी हिस्से को भी भूमि-स्पर्श करा दे।

यदि निर्णायक के निर्णय से असन्तोष रहता है, तो चारों खम्भो के पास बैठे चार पर्यवेक्षकों को उस विषय में अपना निर्णय देना पड़ता है।

पेशेवर सुमो-खिलाड़ी किसी भी तरह कुम्भकर्ण से कम नहीं होते। उनका भार ढाई सौ पौन्ड से साढ़े तीन सौ पौण्ड तक होता है।

क्युजुत्सु या धनुविद्या—युद्ध के बाद कुछ वर्ष तक तो किसी ने धनुर्विद्या की ओर ध्यान नहीं दिया। १६४६ में एक खेल के तौर पर नये सिरे से धनुर्विद्या का उद्धार किया गया। १६५१ में शिक्षण-सचिवालय

ने लड़कियो को एक अतिरिक्त विषय के रूप मे धनुविद्या सीखने पुनः की अनुमति दे दी ।

स्यूई या तैराकी

प्राचीन समय में जापानी तैराक, कुछ ऐसे तैराकी के हाथ चलाते थे, जो पाश्चात्य हाथों के ही समान थे ।

१६१० में जब जापान में पाश्चात्य तैराकी ने प्रवेश किया तो जापानियों ने बड़ी जल्दी पछाँही हाथो को अपना लिया । १६२१ में एक जापानी तैराक-मण्डली ने सर्व-प्रथम ओलम्पिक खेलों में हिस्सा लिया, तो उसने किसी भी तरह की प्रतिष्ठा नहीं पाई । तब उन्होंने पश्चिम-पद्धति को और भी ज्यादा ध्यान से देखा-भाला और समझा । १६२४ में जब उन्होने आठवें ओलम्पिक में हिस्सा लिया तो जापानियों को लगा कि वे भी इस खेल के मामले मे अपने पछाहीं बन्धुओं से उन्नीस नहीं है ।

१६२८,·१६३२ तथा १६३६ तक जापान उत्तरोत्तर उन्नति करता रहा । १६३६ में बर्लिन में जो ओलिम्पिक हुए और उसमें जो जापानी टीम पहुँची, बारह दगलो मे से सात दंगलों मे वही विजयी हुई ।

१६४८, १६४६ होते-होते जापानी तैराकों ने एक से अधिक विश्व-रिकार्ड स्थापित कर दिए ।

१६५० मे एक जापानी मण्डली ब्राजील गई और एक अमरीकी तैराक-मण्डली जापान आई ।

टैनिस, फुटबाल, बॉली-बाल आदि सभी विदेशी खेल भी जापान में खेले जाते हैं ।

---

[२२]

जापान की शासन-पद्धति

समय था जब किसी भी देश के सम्बन्ध में यह प्रश्न अत्यधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था कि वहाँ के निवासियों का धर्म क्या है? किन्तु वर्तमान युग में जो प्रश्न इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण बन गया है, वह है देश-विशेष का शासन कैसे होता है? जापान के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न और भी अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि धर्म सम्बन्धी प्रश्न वहाँ बहुत ही गौण बन गया है।

जापान की शासन-पद्धति को समझने के लिए वहाँ के राजनीतिक ढाँचे में राजा के यथार्थ स्थान को समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार राजा को यहाँ ईश्वरांश माना जाता रहा है, उससे कहीं अधिक दृढ़ता और विश्वास के साथ जापान में राजा अमतरसु (अमतरश्मि) नामक सूर्य-देवता के आदेश से शासनारूढ माना जाता रहा है।

पौराणिक किम्बदन्ती है कि इजनगी तथा 'इजनमी नामक दैवी-युगल से निप्पोन अथवा आठ द्वीपों की उत्पत्ति हुई। ईसी दैवी-युगल ने अमतरसु नामक एक पुत्री को भी जन्म दिया, जिसने अपने पोते राजकुमार

निनिगि को सिंहासनारूढ़ किया और यह आदेश जारी किया कि यह शासनाधिकार वशानुगत चालू रहना चाहिए। विश्वास किया जाता रहा है कि जिस पूर्वज ने २६०० वर्ष पूर्व जापान का शासन किया, उसीके किसी वशज को जापान का सम्राट होने का अधिकार है। इतिहासज्ञो का विचार है कि इस पौराणिक किम्वदन्ती का कुछ भी ऐतिहासिक आधार नहीं है। यथार्थ बात यह है कि जापान की स्थापना हुए ही २००० वर्ष हुए हैं। जो हो, इस विश्वास का यह बड़ा लाभ रहा है कि सम्राट को केन्द्र और अपनी भक्ति-भावना का मध्य-विन्दु मानकर जापानी जनता एक दृढ़ सुसगठित जाति बन गई।

१८८६ में जब मेजी-शासन-विधान की रचना हुई उस समय भी राजा के दैवी-रूप को अक्षुण्ण मानकर ही विधान बनाया गया। सूर्य-देवता अमतरसु के आदेश से शासन करनेवाले सम्राट को जापान का निरंकुश शासक स्वीकार किया गया। परिणाम-स्वरूप यद्यपि पश्चिम के ढग की पार्लमेंट अथवा संसद की स्थापना हुई, किन्तु उसका अधिकार सीमित ही बना रहा।

निस्सन्देह सिद्धान्त रूप से नरेश सर्वाधिकार-सम्पन्न रहा है, किन्तु व्यवहार मे राज्य की शक्ति नौकरशाही युद्ध-प्रिय मण्डली के हाथों मे रही है। कदाचित् उसी का परिणाम द्वितीय विश्व-युद्ध भी हुआ हो। युद्ध मे जापान की पराजय ने उसकी शासन-पद्धति को बहुत ही बदल दिया है।

३ नवम्बर १९४६ को जापान का एक नया विधान बना। इस विधान का उद्देश्य था पोट्सदम की घोषणा के अनुसार जापान की राजनीति को अधिकाधिक जनतान्त्रिक ढग पर ले चलना। उस विधान

ने जापान के शासक की स्थिति को सर्वथा उलट-पुलट दिया। कहाँ तो वह जापान का निरकुश सम्राट था, और कहाँ वह एक प्रकार का प्रतीक-मात्र रह गया, जिसका जापानी सरकार पर किसी प्रकार का कुछ भी जोर अथवा अधिकार नहीं चलता।

वर्तमान सम्राट १६०१ की २४ अप्रैल को पैदा हुए और १६२६ से सिहासनारूढ हैं। नाम है हिरोहितो। राजकुमार अकिहितो का जन्म १६३३ मे हुआ है। दूसरे विद्यमान राज्य-परिवार के सदस्य हैं सम्राट के अनुज-राजकुमार छिछिबु, राजकुमार तकयत्सु और राजकुमार मिकस।

विश्व-बौद्ध–सम्मेलन के दिनो मे जापान मे चुनाव की हवा जोर-शोर से बह रही थी। परिणामस्वरूप किसी बडे राज्याधिकारी ने उसमे भाग नहीं लिया। राजकुमार मिकस ही एकमात्र अपवाद माने जा सकते हैं।

१ सितम्बर ४५ में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार सम्राट् की जमींदारी का मूल्य १,५६,२२,२८,०४८ येन कूता गया था। किन्तु मुद्रा-वृद्धि के कारण अब वर्तमान मुद्रा के मूल्याकन के हिसाब से उसका मूल्य कहीं अधिक बढ गया है। १६४७ मे सम्पत्ति-टैक्स कानून का प्रयोग करके सम्राट् की जमींदारी का अधिकाश राज्य की सम्पत्ति बना दिया गया। वर्तमान विधान के अनुसार शेष भाग भी राज्य की सम्पत्ति हो गया है। अब सम्राट् की सम्पत्ति हैं, उनके उपयोग की चीजें तथा उनकी एकदम व्यक्तिगत मिल्कियत।

नया शासन-विधान

नई शासन-पद्धति का सिद्धांत है कि राज्य-सत्ता अपने मूल-रूप में

जनता में निहित है। सम्राट् तो अब शासन-सत्ता का प्रतीक-मात्र है। राज्य की शासन-सत्ता सभी आधुनिक प्रजातन्त्रीय शासनो की तरह तीन विभागों मे विभक्त है—(१) विधान-निर्माण कार्य, (२) शासन-कार्य, (३) न्याय-कार्य। विधान-निर्माण कार्य राष्ट्रीय संसद के हाथ मे है। शासन-कार्य मन्त्रिमण्डल के हाथ मे। न्याय-कार्य उच्च न्यायालयों के हाथ में। जनता राष्ट्रीय ससद के सदस्य चुन सकती है, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की आलोचना कर सकती है और विधान मे सुझाए गए परिवर्तनों को स्वीकार कर सकती है।

राष्ट्रीय-संसद

राज्य-शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप राष्ट्रीय ससद ही है। यही एकमात्र विधान निर्मात्री-संस्था है। यह दो भागो में विभक्त है (१) लोक-भवन, (२) राज्य-भवन। लोक-भवन के सदस्यो की सख्या निश्चित है ४६६ और काल भी निश्चित है चार वर्ष। किन्तु आज-तक कभी भी लोक-भवन अपनी अवधि तक चालू नहीं रह सका। राज्य-भवन के सदस्यो की कुल सख्या २५० है। इसका कार्य-काल छः वर्ष का है।

लोक-भवन का कार्य-काल चार वर्ष का होते हुए भी, वह किसी भी ऐसे समय समाप्त हो सकता है जब मन्त्रिमण्डल की सलाह अथवा स्वीकृति से उसे भग कर दिया गया हो।

प्रौढ लोगों को मताधिकार प्राप्त है। उसमें कहीं किसी भी तरह का विभेद नहीं पाया जाता।

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर, १९४६ में, जब जापान मे पहला

चुनाव हुआ, तो वही अवसर था जब स्त्रियो को पहली बार मताधिकार प्राप्त हुआ।

किसी भी ऐसे विवाद-ग्रस्त विषय मे, जैसे कोई कानून पास करना हो; बजट पास करना हो, दो देशो के बीच किसी सन्धि को स्वीकार करना हो और प्रधान मन्त्री का चुनाव हो, जब दोनो भवनों मे मतैक्य नही हो, तो लोक-सभा के मत की ही प्रधानता रहती है। किन्तु यदि विधान मे किसी परिवर्तन को अस्वीकार करना हो तो दोनों भवनो के दो-तिहाई सदस्यो से अधिक सदस्यों की स्वीकृति अनिवार्य होती है।

मन्त्रिमण्डल

राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था का सर्वोपरि अधिकारी संस्थान है जापान का मन्त्रिमण्डल। राष्ट्रीय ससद की इच्छा के अनुसार जापान का सम्राट् प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है। इस मामले मे ब्रिटेन की पार्लमेंट-पद्धति का अनुसरण किया गया है। यद्यपि प्रधान मन्त्री ही अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है, किन्तु उनमे से अधिकाश का राष्ट्रीय ससद का सदस्य होना अनिवार्य है। इसका एक स्पष्ट अर्थ यह भी है कि बिना राष्ट्रीय ससद् का सदस्य हुए भी, जापान मे प्रधान मन्त्री की इच्छा से कोई व्यक्ति मन्त्री हो सकता है। चाहे वह राष्ट्रीय ससद का सदस्य हो अथवा न भी हो। ऐसे मन्त्री जब चाहे ससद की बैठक मे उपस्थित हो सकते हैं और किसी भी बिल पर अपना मत व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु यदि कभी किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए अथवा किसी भी बात को स्पष्ट करने
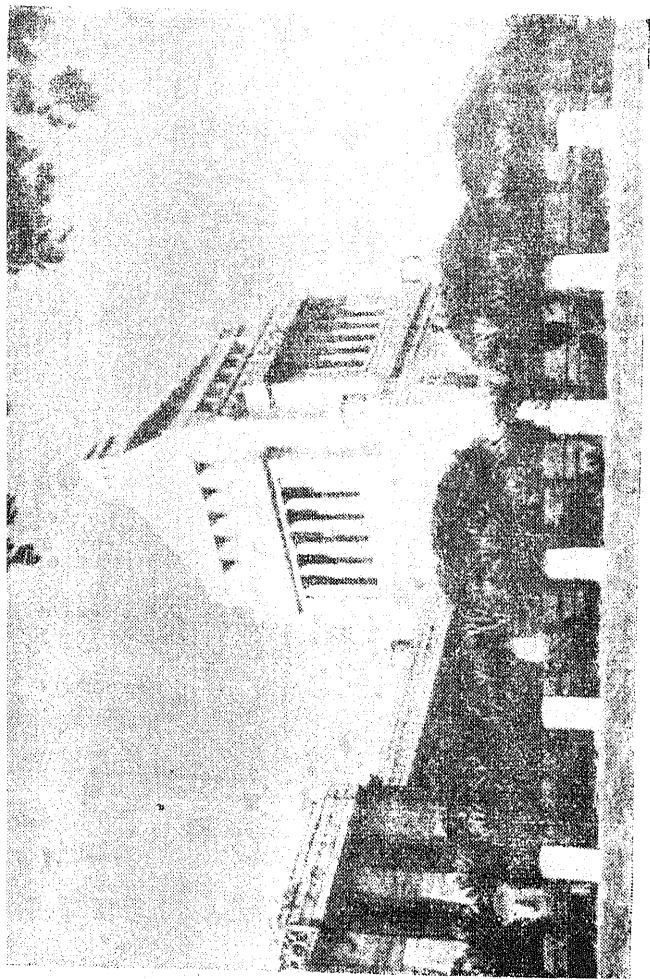
जहाँ कानून बनते हैं। (पृ० २१०–२११)

के लिए उनमें से किसी की आवश्यकता हो तो उसे अनिवार्य तौर पर उपस्थित होना ही होगा।

प्रधान मन्त्री यदि चाहे तो किसी भी समय उसे पद से पृथक् कर सकता है। प्रधान मन्त्री को राज्य के मन्त्रियों में से ही पृथक्-पृथक् मन्त्रालयों के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करनी होती है। जापान के सचिवालयों में हैं—(१) विदेशी मामलों का मन्त्रालय, (२) वित्त मन्त्रालय (३) शिक्षण मन्त्रालय, (४) लोक-कल्याण मन्त्रालय, (५) खेती तथा जंगल मन्त्रालय, (६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उद्योग मन्त्रालय, (७) यातायात मन्त्रालय, (८) डाक-विभाग मन्त्रालय, (९) तार-विभाग मन्त्रालय, (१०) श्रम मन्त्रालय तथा (११) पुनर्निर्माण मन्त्रालय।

इन सचिवालयों के अतिरिक्त प्रधान मन्त्री के आफिस के कई दूसरे विभाग हैं। इन सरकारी विभागों के कार्य को पूरा करने के लिए न जाने कितने कमीशन (आयोग) हैं।

जापानी राष्ट्रीय रेलवे यद्यपि एक सरकारी संस्था है, किन्तु वह एक प्रकार से स्वतन्त्र सत्ता मान ली गई है।

न्यायालय

व्यय करने का अधिकार और सामर्थ्य सुप्रीम कोर्ट को और नीचे दर्जे की अदालतों को है। नीचे दर्जे की अदालतों से मतलब है हाईकोर्ट, डिस्ट्रिक्ट-कोर्ट, परिवार कोर्ट और संक्षिप्त-कोर्ट। सुप्रीम कोर्ट में १५ न्यायाधीश हैं। मुख्य न्यायाधीशका चुनाव मन्त्रिमण्डल करता है और औपचारिक नियुक्ति सम्राट् के हाथों होती है। शेष न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ मन्त्रिमण्डल द्वारा होती हैं। नियुक्तियों के बाद होनेवाले चुनाव

के अवसर पर जनता सभी नियुक्तियो की आलोचना करती है, और उसके बाद प्रत्येक दसवे वर्ष करती रहती है। निचले दर्जे के न्यायधीशो की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल दस वर्ष के लिए ही करता है। हाँ, उनकी पुनर्नियुक्ति भी हो सकती है। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश के लिए आयु की मर्यादा ७० वर्ष है, दूसरे न्यायाधीशो के लिए ६५ वर्ष।

सभी न्यायाधीशो का सरकारी-पद 'सुरक्षित' रहता है।

सभी न्यायाधीशों के निर्णयों को कार्यरूप मे परिणित करनेवाला 'पब्लिक प्रासिक्यूटर' सदृश एक आफिस साथ लगा रहता है।

जापान-भर में 'ज्यूरी-पद्धति' कहीं नहीं है।

नये शासन-विधान में स्वायत्तशासन की भी व्यवस्था है। ऐसी सार्वजनिक सस्थाओं मे हैं—

(क) एक तोक्यो-तो (तो)

(ख) एक होक्के-दो (दो)

(ग) दो क्योतो-फ्यु तथा ओसाका-फ्यु (फ्यु)

(घ) व्यालीस केन।

सभी सार्वजनिक स्वायत्त शासनिक संस्थाओं के सदस्य तथा पदाधिकारी सीधे जनता द्वारा चुने जाते हैं। इनका अपना एक-एक विधान-भवन होता है, जिसे कानून बनाने तथा रद्द करने का अधिकार रहता है।

जापान के नागरिक

'समुद्र-पार' की भूमि जापान के हाथ से निकल जाने के बाद से जापान की आबादी में प्रधान-रूप से यमता नसल के लोग ही हैं। कुछ

थोड़ी मात्रा एनु नाम के आदिम-निवासियो की भी है। जापान में जातीयता का निर्णय प्रदेश के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होता। १९५० की जनगणना के अनुसार जापान की जनसख्या ८,३१,९९,६३७ थी। इसमे अगस्त १९५१ की गिनती के अनुसार ५,५५,००० कोरिया-निवासी थे, ४२००० चीनी तथा १६००० अन्य जातियो के लोग थे।

राजनीतिक दल

जिन दिनों विश्व-बौद्ध-सम्मेलन हो रहा था, उस समय जापान चुनाव की तैयारी कर रहा था। समाचारपत्रो मे लिबरल पार्टी (जियो तो) के दोनो बड़े नेताओं—योशिदा तथा हतोयामा—के कलह का समाचार पढ नेपाल के 'कोइराला बन्धुओ' के झगडे की याद आती थी। योशिदा तथा हतोयामा के झगड़ो के बावजूद जापान मे अभी भी जियो-तो ही शासनारूढ हैं। जापानी समाजवादी पार्टी भारतीय समाजवादी पार्टी जैसी भी वाम-पन्थी प्रतीत नही हुई। उसके भी दो दल हैं। दोनों दल मिलकर शकाई तो कहलाते हैं। दोनो की अधिकाश शक्ति कम्युनिस्ट-पार्टी अर्थात् क्यो-सा-तो से लड़ने मे ही खर्च हो जाती है।

मेरे एक जापानी मित्र ने कहा—'हमे समाजवादी पार्टी चाहिए। समाजवादी पार्टी नहीं रहेगी, तो साम्यवादी पार्टी प्रबल हो जायगी।'

मैंने पूछा—'आपका अपना मत क्या है?'

बोले—'मैं कम्युनिजम का विरोधी हूँ, किन्तु उससे चौंकता नहीं।'

मैं—'इस समय जापानियो को चीनी लोग अच्छे नही लगते होंगे, क्योंकि वे साम्यवादी हैं।'

बोले—'जापानी सभी के मित्र है। अमरीका के लोगों को चीनी अवश्य बुरे लगते हैं। चीनी लोग साम्यवादी नही है। चीनी सरकार कम्युनिस्ट अवश्य है। यद्यपि जापान के लिए साम्यवाद ठीक नहीं है, किन्तु चीन के लिए ठीक है।'

मैं नही जानता कि मेरे मित्र के ये विचार कहाँ तक किसी सामान्य जापानी के राजनीतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

[२३]

जापान-'सायोनारा'

सभी देशों मे सभी सिक्कों का समान व्यवहार नहीं होता। इसी तरह किसी भी भाषा के सभी शब्दों का भी नहीं।

जापान मे रहते समय जो दो चार शब्द हमने सीखे, उनमे जिस एक शब्द का सबसे अधिक व्यवहार करना पड़ा, वह है—'सायोनारा'।

'सायोनारा' का अर्थ है बिदाई।

अपने अतिथि का स्वागत करना और उसे बिदा करना यदि किसी को सीखना हो, तो जापानियो से सीखे।

मन्दिरो में, घरों मे और होटलों मे-सभी जगह आपको यह कला अपने अत्यन्त विकसित रूप में दिखाई देगी।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने बिदाई की वेदना को अत्यन्त चुभनेवाले शब्दो मे व्यक्त किया है—बिछुरत एक प्राण हरि लेहिं।

हमे भी जापान छोडते समय जो कम या अधिक मात्रा में वैसी ही अनुभूति हुई, उसके मूल मे जो कई छोटे-मोटे अनुभव हैं, उनमे से दो चार इस प्रकार हैं—

एक जापानी भिक्षु कुछ समय तक सिंहल मे रह आये थे। उन्हे सब लोग 'मिकी' कहते थे। 'सिहल' भाषा बडे ठिकाने से बोलते थे। अग्रेजी पढे-लिखे लोगो के लिए तो अग्रेजी के जानकार माध्यमों की व्यवस्था थी, किन्तु 'मिकी' अपने सिहल ज्ञान के कारण अग्रेजी से सर्वथा अनभिज्ञ सिहल महास्थविरों तथा जापानी महास्थविरो के बीच मे भी माध्यम का कार्य्य करते। एक रात जिस विशाल मन्दिर मे हम ठहरे थे, वहाँ एक तरह की धर्म-चर्चा की व्यवस्था हुई। उस रात 'मिकी' ही बहुत देर तक सिहली-जापानी माध्यम का कार्य्य करते रहे। सामान्य बातचीत मे उनको शब्दो का शास्त्रीय प्रयोग 'आनन्द' के साथ सभी के मनोरजन का भी कारण बनता।

'मिकी' थकना जानते ही न थे। जब देखो तब, वह सभी के लिए हाजिर। वह स्वय कब खा लेते थे, कब कहाँ सो लेते थे, यह आश्चर्य का ही विषय था। बीच-बीच में जब वह अकेले होते तब निचरेन सम्प्रदाय का 'नमो हो रेगे क्यो'..... का टॉम टॉम भी बजा ही लेते।

उन्हे कभी किसी ने गुस्सा होते नहीं देखा। मुझे खेद है कि मैं ही एक दिन उन्हें थोड़ा चिढाने का कारण बन गया।

हम काफी लम्बी यात्रा करके थके-थकाये एक होटल मे पहुँचे थे। विश्राम और केवल विश्राम खोज रहे थे। तबतक 'मिकी' महाराज ने कमरे-कमरे में जाकर कहना आरम्भ किया—

"जिन्हे नगर देखना हो, उनके लिये 'बस' तैयार है।"

मेरे मुँह से निकला क्या अभी भी आप के देश मे कुछ देखने को शेष रह गया है?

'मिकी' को गुस्सा आ गया। बोले—'चुप रहो'। यह गुस्सा स्वाभाविक था। मैंने एक जापानी के मर्म-स्थल 'देश' के साथ हलकी छेड़-खानी कर दी थी।

'मिकी' तो अथक स्वय-सेवको के सरदार थे ही। उनके अतिरिक्त भी जितने स्वय-सेवकों से काम पड़ा उनमें अधिकाश को बडा जिम्मेदार पाया।

लगभग दो सौ प्रतिनिधियो को पॉच-सात बसों में सवार करा कर एक दूसरी जगह ले जाया जा रहा था। जिस बस में मैं था, उसमे भी पच्चीस-तीस आदमी रहे ही होंगे। हर जगह साथ चढने-उतरने से सभी लोग परस्पर खासे परिचित हो गये थे। और बात यह थी कि परिचित लोग ही प्राय: एक साथ इकट्ठे बैठे भी थे। एक जगह जब हम सभी वापस आ बस में चढ गये और ड्राइवर को कहा 'चलाओ' तो हमारा जापानी मार्ग-निर्देशक बोला—'एक आदमी कम है।' सभी ने अपने-अपने परिचितों, मित्रो को याद किया, कहीं कोई कमी न दिखाई दी। किन्तु जापानी मार्ग दर्शक को जिद थी कि एक कम है। अन्त में उसकी बात ठीक निकली। सचमुच एक सज्जन पीछे रह गये थे।

एक महीने के प्रवास में जितने अनुवादको वा मार्ग-दर्शको से काम पड़ा उन सभी की एक बात—एक विशेषता याद आ रही है। स्मरण ही नहीं आता कि किसी भी अनुवादक या मार्ग-दर्शक ने अपने देश के शासन की—अपने देश की—हम विदेशियों के सामने आलोचना की हो। वे अपने देश की प्रतिष्ठा के प्रति सतत जागरूक रहे।

मन्दिरो और होटलो मे तो अधिकाश रहना हुआ ही, 'किन्तु एक'

'घर' मे भी रहना पड़ा। कान्फ्रेंस समाप्त होने के बाद जब तक जापान से अन्तिम-बिदा लेने का दिन नही आया, तब तक मैं एक प्रकार से रेवरेण्ड रि-रि नाकायामा का ही अतिथि रहा। पहले ही दिन जब उन्होंने अपने सुपुत्र का परिचय कराया तो मैंने पूछा—"आपकी और सन्तान ?"

बोले—"ऐसी जल्दी क्या है, एक एक करके सबका परिचय हो जायगा।"

रैवरेण्ड रि-रि नाकायामा के दो पुत्र और पाँच कन्याये हैं। वहाँ रहने पर समझ मे आया कि भाषा-ज्ञान न हो तो इशारों की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा से प्रायः सभी काम चल सकते हैं। भावनाओं का दर्जा भाषा से कहीं ऊँचा है।

माताजी की 'बिदाई' तो सदा याद रहेगी।

रैवरेण्ड रि-रि नाकायामा बाहर जाते तो मुझे अपने लड़के के सुपुर्द कर जाते। अपने सीमित अंग्रेजी ज्ञान के बावजूद वह अपनी सूझ-बूझ की सहायता से मेरे लिए कितना उपयोगी सिद्ध होने का प्रयत्न करता।

मैं कहीं लिख चुका हूँ कि अपने अतिथियों को तथा आपस में भेंट लेने-देने के मामले में जापानी अव्वल नम्बर हैं।

क्योतो से तोक्यो वापिस आ रहे थे। रैवरेण्ड निकियामा ने कहा—'यहाँ आतमी में गरम पानी का चश्मा है। रात भर जगे हैं। वहाँ स्नान कर थोड़ा विश्राम कर तोक्यो चलें।'

'बहुत अच्छा।'

स्टेशन पर उतर कर टैक्सी करके हम एक जापानी सराय में गये।

जापानी सराय 'घर' शब्द के मधुरतम अर्थ मे 'घर' होता है। स्नान किया, भोजन किया, विश्राम किया। पर्वत भी बहुत देखे हैं। समुद्र-तट पर भी पर्याप्त रहा हूँ। किन्तु ठीक जहाँ पर्वत समाप्त हो, वहीं से समुद्र आरम्भ हो ऐसा 'आतमी' में ही देखा। पर्वत और समुद्र की सयोग-स्थली पर ही यह जापानी सराय-स्थित थी। चन्द घड़ियाँ बडे ही सुख से कटीं।

स्नान करते समय मैंने अपने एक निजी तौलिये का भी उपयोग कर लिया था। यूँ मुझे अपने अभ्यास के अनुसार उसे उसी समय धो डालना चाहिये था, किन्तु आलस्य कर गया। सोचा विश्राम कर चुकने पर धो डालूँगा।

विश्राम करके उठा, सराय से 'बिदा' ली, टैक्सी में बैठ स्टेशन चला आया।

'विदा' होते समय सराय के सभी लोगों ने दरवाजे तक आ बाकायदा 'प्रणाम' करके 'बिदा' दी। साथ में एक छोटा सा वस्त्र 'बिदाई' की स्मृति-स्वरूप।

मुझे लगा कि यह 'जापान' की ओर से 'भारत' का विशेष आदर है।

स्टेशन पहुँचा तो याद आया कि वह छोटा-सा वस्त्र जिसे नहाते समय, बाद मे धोने के लिये छोड़ दिया था, वहीं रह गया। थोड़ी आत्मग्लानि हुई। तौलिया छूट जाना तो बडी बात न थी। फिर, तौलिये के बदले में तौलिया मिल भी गया था। बड़ी बात थी कि उस तौलिये

के रूप में मैं एक 'भारतीय' की लापरवाही का सर्टिफिकेट पीछे छोड़ आया था।

कुछ दिन बाद देखा कि मेरा वह तौलिया, धुला हुआ, इस्त्री किया हुआ 'अतमी' से तोक्यो पहुँचाया गया है।

क्या जापानी-सराय के व्यवस्थापकों की यह प्रतिष्ठित मर्य्यादा भूलने की चीज है ?

नेताजी

जापान छोडने का समय समीप आ रहा था, और मेरे जापान जाने के उद्देश्यो मे से एक अभी तक पूरा न हुआ था। मैं भारत से बिदा होते समय ही 'सुभाषु बाबू' के बारे में कुछ प्रामाणिक जानकारी लाने के संकल्प को साथ लेकर जापान गया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुझे एक बार फिर क्योतो से तोक्यो जाना पडा। जो जानकारी मिली, उसे मैं देश वापिस आकर अपने देश-बन्धुओ तक पहुँचा ही चुका हूँ। उसकी मोटी-मोटी बाते ये हैं—

१६ अगस्त १६४५ को पूर्वान्ह मे साढे दस बजे 'बाम्बर' विमान पर बगकाक से सिंगापुर की ओर प्रस्थान।

१७ अगस्त १६४५ को प्रातः काल साढ़े सात बजे सायगॉव की ओर रवाना। पौने ग्यारह बजे सायगॉव पहुँचे। सवा पॉच बजे सायकाल जनरल शिदाई तथा अन्य अधिकारियों के साथ सायगॉव से बिदा हुए, पौने आठ बजे 'तोराणा' पहुँचे और वहीं रहे।

१८ अगस्त १६४५ को प्रातःकाल तोराना से निकल दोपहर दो बजे तायकोहु पहुँचे। तायकोहु में थोड़ी देर रुक कर दो बजकर पैंतीस मिनट

पर फिर विमान ने उड़ान ली। अभी वह आकाश में ११० फुट ऊँचा भी नहीं उठा होगा कि उसका 'प्रोपेलर' टूट गया। गिरते-गिरते विमान में आग लग गई। नेताजी के ठीक सिर पर 'गेसोलीन' की टंकी होने से नेताजी आग की लपेट में आ गए। झुलसे हुए कपड़ो के साथ वे विमान से बाहर आए। उनके एकनिष्ठ साथी कर्नल हबीबुरहमान ने नेताजी के कपड़ों की आग बुझाने का प्रयत्न किया। जैसे-तैसे कपड़ों की आग बुझाई जा सकी। किन्तु तब तक नेताजी की हालत बहुत चिन्ताजनक हो गई थी। इसलिए उन्हे समीप के एक अस्पताल में ले जाया गया।

अस्पताल में ही १८ अगस्त १९४५ को प्रातःकाल आठ बजे नेताजी की मत्यु हुई। अतिम क्षण तक उनके होशहवास ठिकाने रहे और वे शान्त बने रहे। बीच-बीच में कर्नल हबीबुरहमान से उन्होंने कोई भी बातचीत की तो वह भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ही। जब उन्होने अपना अन्तिम क्षण समीप आया जाना तो कर्नल हबीबुरहमान की मार्फत अपने देशवासियों को निम्नलिखित सदेश दिया—

'आयु के अतिम क्षण तक मैं भारत की स्वतन्त्रता के लिए लड़ता रहा और उसी प्रयत्न में मै अपने प्राण त्याग रहा हूँ। देशवासियो! लडाई जारी रहे। 'भारत' स्वतन्त्र होकर रहेगा। 'आजाद हिन्द' चिरायु हो!'

२२ अगस्त १९४५ को तायकोहु मे ही नेताजी की अन्त्येष्टि हुई। २३ अगस्त १९४५ को नेताजी के अवशेष इकट्ठे किए गए। ६

सितम्बर १९४७ को उन्हें तोक्यो लाया गया। १२ सितम्बर १९४५ से वे रेकोजी मन्दिर में सुरक्षित हैं, आदृत हैं, पूजित हैं।

मैं उक्त जानकारी के लिए आजाद हिन्द फौज के श्री मूर्ति का कृतज्ञ हूँ। जब से मैंने उक्त जानकारी पत्रों में प्रकाशित कराई है एक से अधिक जिम्मेवार लोगों को मैंने उक्त जानकारी पर प्रश्न-चिन्ह लगाते पाया है। कौन अभागा भारतीय होगा जिसे उक्त सारी घटना के मिथ्या-सिद्ध होने पर प्रसन्नता न होगी। किन्तु भारत में यह जिस प्रकार चर्चा का विषय बन गई है, मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि देश के सौभाग्य से अभी भी कहीं नेताजी जीवित होंगे, तो सचमुच बैठे मुस्कराते होंगे और यदि नहीं ही होंगे तो सोचिए तो उनकी 'आत्मा' क्या कहती होगी।

इन पंक्तियों का लेखक तो उनकी अन्तिम-स्मृति पर अपनी श्रद्धा-जलि चढा चुका है और उस दिन की प्रतीक्षा में है जब नेताजी के महान व्यक्तित्व के अनुरूप उनके 'फूलों' की इस देश में 'फूलों' से अर्चा होगी,—पूजा होगी।

सायोनारा

जापान में रहते समय जब किसी भी मित्र से बिदाई ली, मुँह पर था—सायोनारा। जापान की सड़कों पर से गुजरते समय जब सड़कों के दोनों ओर खडे बच्चों की कतारें हमें अभिवादन करती थीं, तब भी हमें कहना होता था—सायोनारा। कभी-कभी तो किसी मन्त्र के जाप की तरह अथवा किसी 'नारे' के बार बार चिल्लाते रहने की तरह हमें लगातार काफी देर तक कहते रहना पड़ता था—'सायोनारा'।

रिंकोजी मंदिर—लेखक की दाहिनी ओर मंदिर के पुजारी, बाईं ओर नेताजी के फूल हैं।
(पृ० २२२–२२३)

जब कोबे में जापानी तट छूटने वाला था, तब मुझे कुछ लिखकर देने को कहा गया, जो असम्भव नहीं, हमारे चले आने पर जापानी पर्चों में छपा हो। नीले आकाश के नीचे, नीले-समुद्र पर थिरकते हुए जहाज मे बैठे-बैठे मैंने लिखा—

"तीन सप्ताह पहले हममे से अधिकाश प्रतिनिधिगण जापान के लिए अपरिचित थे। अब तीन सप्ताह से कुछ अधिक दिन जापान में रहकर जापान से बिदा होते समय मैं सोचता हूँ कि हम क्या विचित्र 'अपरिचित' लोग थे। क्योंकि, जापान ने न केवल मित्रो की तरह, किन्तु अपने सगे-सम्बन्धियो की तरह हमारा स्वागत किया था, हमे आराम से रखा था, हमारी देख-भाल की थी और सम्भवतः हमारा विश्वास भी किया था। जापान के परम्परागत आतिथ्य को हमारा नमस्कार।

"हमने जापानी राजनीति के केन्द्र तोक्यो को देखा। हमने सांस्कृतिक आन्दोलनों के गढ नारा तथा क्योतो को देखा। हमने व्यापार और कलाकौशल के केन्द्र ओसाका तथा कोबे को देखा। जहाँ-जहाँ हम गए हमे यही लगा कि हम जापान से बहुत कुछ सीख सकते हैं।

"हमे खेद है कि हमने विश्व-बौद्ध-सम्मेलन मे जापान की राजनीतिक विभूतियों मे से किसी एक को भी नहीं देखा। क्या इसलिए कि यह एक धार्मिक सम्मेलन था और जापान एक लौकिक राज्य है। सिंहल भी तो एक लौकिक राज्य ही है। किन्तु, जब कोलम्बो में प्रथम विश्व-बौद्ध सम्मेलन हुआ था, उस समय वहाँ के प्रधान मन्त्री श्री सेनानायक ने भरपूर दिलचस्पी ली थी। भारत भी तो लौकिक राज्य ही है। किन्तु, भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू अपनी सर-

कार के साथ सारिपुत्र तथा मौद्गल्यान की पवित्र धातुओ का स्वागत करने के लिए दिल्ली से कलकत्ता पधारे थे ....

'अब यदि ससार बचा रह सकता है तो केवल एक ही तरह और वह यह कि उन बातों का महत्व स्वीकार किया जाय जो मनुष्य को युद्ध-प्रेमी न बनाकर शाति-प्रेमी बनाती हैं।

'हमने अनेक स्थानों पर, और सबसे अधिक हिरोशिमा मे उस भयानक विपत्ति की गूँज सुनी, जिसे कुछ लोगों ने 'जापान की हार' कहा है। किसी किसी ने उसे मित्र-सेनाओं की विजय का 'प्रतीक' माना है! हिरोशिमा मानवी 'सभ्यता' की हार के प्रतीक के अतिरिक्त और कुछ नहीं! अपनी यात्रा में हमने हर जगह देखा है कि जापान की 'आत्मा' मे कहीं भी पराजय की भावना के लक्षण नही है। राजनीतिक-हार कोई हार नहीं होती। हमे तो यह चतुराई से पीछे हटना मात्र प्रतीत हुआ है—अहिंसा का एक पदार्थ-पाठ।

'महान अशोक' कलिंग-विजय के बाद, अहिंसा का पुजारी बन गया। क्यो अमरीका के युद्ध-भटों से ऐसी आशा की ही नही जा सकती?

'जो हो, जापान के शान्तिप्रिय लोगों को हमारा सादर सायोनारा!'

—:o:—